□ प्रकाशक :
देवेन्द्रराज मेहता
सचिव,
प्राकृत भारती अकादमी
३८२६, मोतीसिंह भोमियों का रास्ता
जयपुर-३०२००३

□ पारसमल भंसाली
अध्यक्ष,
श्री जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ
मेवानगर, स्टे. बालोतरा
३४४०२५, जि० बाडमेर

□ नरेन्द्रप्रकाश जैन
पार्टनर,
मोतीलाल बनारसीदास
बंगलो रोड, जवाहरनगर
दिल्ली-११०००७

□ अनुवादक—नैनमल सुराना

□ प्रथम संस्करण : अप्रेल १९८९

□ मूल्य : ४०.००

□ मुद्रक :
श्रीचन्द सुराना के निदेशन में
दिवाकर प्रकाशन
ए-७ अवागढ़ हाउस, अंजना सिनेमा के सामने
एम० जी० रोड़, आगरा-२८२ ००२

प्रकाशक के बोल

इस युग के अशात एव ग्रन्थियुक्त जीवन मे सामायिक धर्म का एक विशेप महत्व है। सामान्य भापा मे सामायिक का अर्थ समभाव से जीवन जीना है। परिस्थितियाँ अनुकूल हो या प्रतिकूल, पीडा हो या आनन्द, विना विचलित हुए और सतुलित रूप से व्यक्ति अगर जीवन जीता है तो वह सामायिक की स्थिति मे है। यह राग-द्वेप रहित जीवन है। जीवमात्र को अपनी स्वय की आत्मा के समान मानकर उनके साथ आत्मतुल्य वृत्ति और व्यवहार रखना तथा उसमे उत्तरोत्तर विकास करना ही सामायिक धर्म की साधना है।

जीवन मे ऐसी सामायिक—समभाव आते ही प्रसन्नता एव पवित्रता का वातावरण स्थापित होने लगता है, शान्ति एव समता का अनुभव होने लगता है।

सर्वज्ञ उपदिष्ट, सर्व-कल्याणकारी इस परम सामायिक धर्म का विशद स्वरूप क्या है ? उसकी अपार महिमा, उसके भेदोपभेद एव प्रभेद, इसकी विश्व मे व्यापकता, दुर्लभता एव अनिवार्यता कितनी है ? उसके अधिकारी कौन हो सकते है ? आदि विन्दुओ पर शास्त्रसापेक्ष सुन्दर भाव-युक्त विवेचन इस पुस्तक मे हुआ है, जिसके पठन-मनन से तत्वप्रेमी जीवो को साधना के मार्ग पर अग्रसर होने की अपूर्व प्रेरणा प्राप्त होगी और अपूर्व वल प्राप्त होगा।

प्रस्तुत पुस्तक के सयोजक (लेखक) पूज्य आचार्य देव श्री विजयकला-पूर्ण सूरिजी महाराज है, जो अनेक शास्त्रो के ज्ञाता एव एक उत्तम कोटि के साधक, सन्त महात्मा हैं। आप ज्ञान, ध्यान एव भगवद्-भक्ति मे अह-

निश रत रहकर जीवन मे सामायिक धर्म की यथार्थ साधना करने का निरन्तर पुरुषार्थ कर रहे है।

पूज्य आचार्य महाराज को "सामायिक धर्म" के विषय में लिखने की प्रेरणा एव मार्ग-दर्शन देने वाले पन्यास प्रवर श्री भद्रकरविजयजी महाराज भी एक विरल कोटि के साधु पुरुष थे।

प्रस्तुत पुस्तक को प्राकृत भारती के पुष्प ५६ के रूप मे प्रकाशित करते हुए हमे अत्यन्त प्रसन्नता है। आशा है, पाठक और साधक इसका स्वागत करेंगे और लाभान्वित होगे।

नरेन्द्र प्रकाश जैन	पारसमल भसाली	देवेन्द्रराज मेहता
पार्टनर	अध्यक्ष	सचिव
मोतीलाल बनारसीदास	जैन श्वे नाकोडा	प्राकृत भारती
दिल्ली	पार्श्वनाथ तीर्थ	अकादमी,
	मेवानगर	जयपुर

□

आमुख

सामायिक च मोक्षाग, पर सर्वज्ञभाषितम ।
वासीचन्दनकल्पाना-मुपतमेतन्महात्मनाम् ॥१॥

—हरिभद्रीय अष्टक २९/१

सामायिक मोक्ष का प्रधान कारण है—यह सर्वज्ञ भगवन्तो का कथन है और उक्त सामायिक वासीचन्दनकल्प महात्माओ को होती है। वासीचन्दनकल्प अर्थात् वासले के द्वारा कोई छेदन करे अर्थात् द्वेषभाव से कोई निन्दा, प्रहार अथवा अन्य प्रकार का उपद्रव करने पर अप्रसन्न न हो, और कोई चन्दन का विलेपन करे अर्थात् भक्ति, गुणगान अथवा अन्य किसी भी प्रकार से स्तुति, प्रशसा अथवा सम्मान आदि करने पर प्रसन्न न हो, अर्थात् अनुकूल व्यवहार करने वाले व्यक्ति के प्रति राग नही रखे और प्रतिकूल व्यवहार करने वाले व्यक्ति के प्रति द्वेष न रखे।

वासीचन्दनकल्प का दूसरा अर्थ यह है कि जिस प्रकार चन्दन अपने उपर प्रहार करने वाले वासले को भी सुगन्ध ही प्रदान करता है, उसी प्रकार से महात्मा भी अपकार करने वाले व्यक्ति के साथ भी उपकार ही करते है।

सामायिक मे तीनो योगो की विशुद्धि होने से वह सर्वथा निरवद्य है, समस्त प्रकार के पापो से रहित है, तथा एकान्त कुशल आशय रूप है, तात्त्विक शुभ परिणाम रूप है।

जिनागमो मे सामायिक के सक्षिप्त तीन भेद बताये है—

(१) साम, (२) सम और (३) सम्म।

साम—यह "सामायिक" मधुर परिणाम रूप है। इस सामायिक मे समस्त जीव राशि के प्रति आत्मतुल्य वृत्तिरूप स्नेह, परिणाम एव मैत्रीभाव होता है। इसे सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्त्व सामायिक भी कहते हैं। जीव की शत्रु-मित्र अवस्था मे समता रखने से "मधुर परिणाम" उत्पन्न होता है।

सम—यह सामायिक "तुल्य परिणाम" रूप है। हर्ष-शोक के सयोग मे, सुख-दु ख अथवा मान-अपमान के प्रसग मे तुला की तरह—दोनो ओर तुल्य वृत्ति, मध्यस्थभाव इस सामायिक मे होता है। पर्याय की गौणता एव द्रव्य की मुख्यता के द्वारा यह सिद्ध होती है।

"श्रुतज्ञान" के अभ्यास के द्वारा ही तुल्य परिणाम उत्पन्न हो सकता है, जिससे उसे "श्रुत सामायिक" अथवा "सम्यग्-ज्ञान" भी कहते है। कर्म से जीव की भिन्नता का विचार अथवा कर्मदृष्टि से शुभाशुभ कर्म की समानता का विचार करने से "तुल्य परिणाम" प्रकट होता है।

सम्म—यह सामायिक "क्षीर शक्कर युक्त परिणाम" रूप है। यहाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की एकता, एकरूपता स्वरूप परिणाम होता है, जिससे इसे चारित्र सामायिक भी कहते हैं। मोक्ष का उपायरूप ज्ञान, क्रिया अथवा रत्नत्रयी मे समान भाव ही क्षीर-शक्करयुक्त परिणाम हैं।

विशेष मे से सामान्य मे जाने से समता भावरूप सामायिक उत्पन्न होती है। विशेष अनेक रूप मे होने से उसमे इष्ट-अनिष्ट की कल्पना अर्थात् विकल्पजाल उत्पन्न होता है।

सामान्य एकरूप होने से उसमे विकल्प नही होते।

"साम" एव "सम" सामायिक जीवत्व सामान्य एव द्रव्यत्व सामान्य के विचार से उत्पन्न होता है।

व्यक्ति के रूप मे जीव भिन्न भिन्न होते हुए भी "जीवत्व" जाति सबकी एक ही है।

कहा भी है, "सव्वभूयप्पभूयस्स"—सर्वात्मभूत बना हुआ मुनि सम्यग् प्रकार से जीवो के स्वरूप को देखता हुआ और समस्त आस्रवो को रोकता हुआ पापकर्म नही बाँधता।

"श्री महानिशीथ सूत्र" मे भी "साम" सामायिक का स्वरूप बताते हुए कहा है कि—"गोयमा! पढम नाण तओ दया।" —"पहले ज्ञान प्राप्त

होता है, तत्पश्चात दया आती है," अर्थात् मेरी आत्मा को जिस प्रकार सुख प्रिय है और दु ख अप्रिय है, उसी प्रकार से विश्व के समस्त जीवो, प्राणियो, भूतो एव सत्त्वो को सुख प्रिय होता है और दु ख अप्रिय होता है– इस प्रकार का ज्ञान होने से समस्त जीवो के प्रति दया (करुणा) की कोमल भावना, स्नेहभाव स्वरूप मैत्री प्रकट होती है।

"दयाए य सव्वजगजीवपाणभूयसत्ताण अत्तसमदरिसित्त ॥"

(दया–मैत्री के द्वारा समस्त विश्व के जीवो, प्राणियो, भूतो एव सत्त्वो के प्रति आत्म समदर्शित्व की दृष्टि प्राप्त होती है।)

इससे उन जीवो को सघट्ट, परिताप, त्रास आदि दु ख देना अथवा भय उत्पन्न करना रुक जाता है, जिससे अनास्रव होता है, हिंसा आदि द्वारो का निरोध होता है और इनसे इन्द्रियो का दमन और कषायो का उपशमन होता है। दम-उपशम के द्वारा शत्रु-मित्र पर समभाव उत्पन्न होता है, जिससे राग-द्वेषरहितता आती है। रागद्वेपरहितता से कषाय-रहितता और कषायरहितता के द्वारा "सम्यग्दर्शन" प्राप्त होता है। सम्यक्त्व के द्वारा जीव आदि पदार्थो का परिज्ञान होता है, जिससे सर्वत्र निर्ममत्व-बुद्धि प्राप्त होती है। अज्ञान मोह और मिथ्यात्व का क्षय होने से "विवेक" प्राप्त होता है। विवेक से हेय-उपादेय वस्तु के चिन्तन मे ही लक्ष्य रहता है जिससे अहित के त्याग एव हित के आचरण मे अत्यन्त उद्यम होता है।

इस प्रकार का प्रवल पुरुषार्थ होने से परम पवित्र उत्तम क्षमा आदि दस प्रकार का अहिंसा लक्षणयुक्त धर्म करने और कराने मे अत्यन्त अनुराग (प्रेम) उत्पन्न होता है और उस तीव्र धर्मानुराग के द्वारा सर्वोत्तम क्षान्ति, सर्वोत्तम मृदुता, सर्वोत्तम ऋजुता, बाह्य एव आन्तरिक सर्व सग-परित्याग, सर्वोत्तम बाह्य एव अभ्यन्तर घोर, वीर, उग्र एव कठोर तप का आचरण करने मे उल्लास उत्पन्न होता है, तथा सत्रह प्रकार के सयम के सम्पूर्ण अनुष्ठान के पालन करने का लक्ष्य बनता है, तथा सर्वोत्तम सत्यभाषित्व, सर्वोत्तम छ काय का हित और सर्वोत्तम अनिगूहित (बिना छिपाये) बल, वीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम का परितोलन एव सर्वोत्तम स्वाध्याय एव ध्यान रूपी जल के द्वारा पाप–कर्म–मल का प्रक्षालन करने वाला सर्वोत्तम धर्म प्राप्त होता है।

शास्त्रकारो ने सामायिक की ऐसी अचिन्त्य महिमा का वर्णन किया है, जिसका पठन-मनन-परिशीलन करने से जीवन मे सामायिक (समता भाव) प्रकट करने की रुचि उत्पन्न होती है और उसके उपायो का परि-पालन (आचरण) करने का उत्तम वल प्राप्त होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ अभ्यासकर्ताओ एवं जिज्ञासुओ के लिए इस विपय की पर्याप्त सामग्री प्रदान करता है—यह हर्ष का विषय है।

—प० भद्रंकरविजय गणि

लुणावा [राजस्थान]
वि सवत् २०३३, वसन्त पचमी

योगाधिराज सामायिकधर्म

अनन्त ज्ञानी, अनन्त उपकारी श्री जिनेश्वर भगवान के शासन मे मोक्ष की सम्पूर्ण साधना क्रमबद्ध भूमिका के रूप मे वर्णित है। विश्व के समस्त दर्शनो द्वारा प्रदर्शित योग अथवा अध्यात्म आदि प्रक्रियाओ का इसमे अन्तर्भाव हो चुका है। सुविहित शिरोमणि पूज्य हरिभद्रसूरिजी महाराज के "योगबिन्दु", "योगशतक" एव "योगदृष्टि समुच्चय" आदि ग्रन्थो के अध्ययन, मनन से ये रहस्य अत्यन्त स्पष्टतया समझे जा सकते हैं।

जैन धर्म मे प्रत्येक अनुष्ठान भावपूर्वक करने का विधान है। भाव की उत्पत्ति मन मे होती है। मन की वृत्तियो पर वाचिक एव कायिक प्रवृत्तियो का भी प्रभाव होता है।

जीवन-विकास-लक्षी किसी भी साधना की नीव मे वचन और काया के द्वारा अशुभ प्रवृत्ति का त्याग और शुभ प्रवृत्ति का आचरण जैन दर्शन ने आवश्यक माना है। वाचिक एव कायिक प्रवृत्तियो मे से अशुभ तत्व हटाये बिना मानसिक शुभ वृत्तियाँ उत्पन्न होनी कठिन हैं। उत्पन्न हो उत्पन्न हो चुकी शुभ वृत्तियो को स्थायी रखना तो इससे भी अधिक दुष्कर है।

जैन दर्शन मे निर्दिष्ट सामायिक धर्म की आगवी साधना इसी नीव पर आधारित है। सामायिक स्वीकार करने की प्रतिज्ञा मे समस्त अशुभ प्रवृत्तियो का त्याग और शुभ प्रवृत्तियो का सेवन किया जाता है। इस कारण से ही समस्त प्रकार के योगो और अध्यात्म-प्रक्रियाओ का "सामायिक" मे समावेश हो जाता है। कहा भी है कि—

सामायिक गुणानामाधार, खमिव सर्वभावानाम्।
न हि सामायिकहीना-श्चरणादिगुणान्विता येन॥
(अनुयोगद्वार सूत्र, टीका)

जिस प्रकार आकाश समस्त पदार्थों का आधार है, उसी प्रकार से सामायिक समस्त ज्ञान आदि गुणो का आधार है, क्योकि सामायिक विहीन जीव चारित्र आदि गुण कदापि प्राप्त नही कर सकते। अत जिनेश्वर देवो ने शारीरिक, मानसिक समस्त दु खो के नाशक मोक्ष के अनन्य साधन के रूप मे "सामायिक धर्म" को ही माना है।

सामायिक क्या है ?

जिसकी आत्मा सयम, नियम एवं तप से तत्पर बनी हुई है, तथा जो समस्त जीवो को आत्मवत् मानकर उनकी रक्षा करता है, उसे ही सर्वज्ञ-कथित वास्तविक "सामायिक" होती है।

समता की प्राप्ति अथवा ज्ञान आदि गुण सम्पत्ति की प्राप्ति सामायिक का सामान्य अर्थ है। "सामायिक" की विशिष्ट व्याख्या एव उनके रहस्य "आवश्यक सूत्र निर्युक्ति" एव "विशेषावश्यक-भाष्य" आदि ग्रन्थो मे विस्तृत रूप से वर्णित हैं जिसके सक्षिप्त सार पर हम यहाँ विचार करेंगे।

सामायिक के मुख्य तीन भेद

(१) साम—यह सामायिक मधुर परिणाम रूप है।
(२) सम—यह सामायिक तुल्य (स्थिर) परिणाम रूप है।
(३) सम्म (सम्यक्)—यह सामायिक तन्मय परिणाम रूप है।

प्रथम साम सामायिक शक्कर के स्वाद तुल्य है और यह सम्यक्त्व सामायिक स्वरूप है।

द्वितीय सम सामायिक तराजू के समान है जो श्रुत सामायिक स्वरूप है।

तृतीय सम्म सामायिक खीर-शक्कर के समान है जो चारित्र सामायिक स्वरूप है।

उपर्युक्त तीनो प्रकार के परिणामो को आत्मा मे प्रविष्ट कराना अर्थात् प्रकट करने का नाम सामायिक है।

(१) साम सामायिक का स्वरूप—

मैत्री, अहिसा, करुणा, अभय, मृदुता, क्षमा, भक्ति आदि के भावो से युक्त आत्मा के परिणाम निर्मल होते है तब एक अपूर्व माधुर्य का अनुभव होता है।

अभय किये विना अभय की प्राप्ति नही हो सकती। भय से चित्त की भावनाएँ चचल होती हैं। समस्त जीवो को अभय करना ही सम्पूर्ण अभय अवस्था प्राप्ति का अनन्य उपाय है।

मैत्री भाव से द्वेष की क्रूर भावना नष्ट हो जाती है, करुणा से हृदय कोमल वन जाता है, मृदुता अभिमान की कठोर वृत्तियो को तोड डालती है, क्षमा से क्रोधाग्नि शान्त हो जाती है और भक्ति से पूज्यो के समर्पण भाव प्रकट होता है।

ये समस्त गुण तथा मित्रा आदि दृष्टियो के साधको मे प्रकट होने वाले गुण इस "साम" सामायिक के द्योतक है, तथा अध्यात्म एव भावना योग और प्रीति एव भक्ति अनुष्ठान भी इस मधुर परिणाम रूप सामायिक को पुष्ट करता है।

योग के अग रूप यम, नियम, आसन, प्राणायाम एव धारणा की प्रकृष्ट साधना भी इस भूमिका में अवश्य दृष्टिगोचर होती है। दया-रस-मय जिन शासन की आगम-सम्पत्ति भी अद्वितीय है जिसमे योग, अध्यात्म एव धर्म के गम्भीर रहस्यो को अत्यन्त ही सूक्ष्म, स्पष्ट एव व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किये हैं।

श्री आचाराग सूत्र के प्रथम अध्ययन मे भी कहा है कि—"समस्त जीवो को आत्मवत् मानकर उनकी रक्षा करनी चाहिये, किसी को दु ख हो ऐसी कोई प्रवृत्ति नही करनी चाहिये, क्योकि समस्त जीवो की रक्षा से ही सयम की सुरक्षा होती है और सयम की सुरक्षा से ही आत्मा की रक्षा होती है। अत समस्त जीवो के प्रति मैत्री भाव रखकर उनकी हिंसा का त्याग करते हुए उन्हे पूर्णत अभय करना चाहिए जिससे आपको भी अभय की प्राप्ति होती है।"

साम सामायिक का लक्षण

सर्व [जीवमैत्रिभावलक्षणस्य (समस्य) आय =समाय तदेव सामायिक, सावद्य योगपरिहारनिरवद्ययोगानुष्ठानरूपो जीवपरिणाम ॥

साम अर्थात् समस्त जीवो के प्रति मैत्री भावरूप समता, आय अर्थात् उसका लाभ, वही "सामायिक" है और वह सावद्ययोग-पाप व्यापार के त्याग स्वरूप और निरवद्ययोग-धर्म व्यापार के सेवन के रूप मे आत्मा का परिणाम है।

विशेष—यहाँ समस्त जीवो के प्रति मैत्री भाव को "समता" कहा है और वह आत्मपरिणामस्वरूप है, जिसका ध्यान छद्मस्थ को नही आ सकता। फिर भी उन परिणामो को हिंसा आदि पाप आस्रवों के त्याग से और अहिंसा आदि सदनुष्ठान के सेवन से जाना जा सकता है।

"योगविंशिका" मे अहिंसा स्वरूप अभय का लक्षण बताया गया है कि—"देह के द्वारा समस्त जीवो को सम्पूर्णत समस्त प्रकार से अभय करना सर्वश्रेष्ठ अभयदान है।" यह दान सर्वोत्तम होने से निम्न स्तर के मनुष्य इसे नही कर सकते। अभयदान दाता के हृदय मे समभाव उत्पन्न करता है।

यह दानदाता यदि गुरुकुलवासी हो और आगम-अर्थ का ज्ञाता हो तो ही उसका दान सर्वोत्तम सिद्ध हो सकता हैं, अन्यथा नही क्योकि अहिसा के पूर्णत पालन मे नयसापेक्ष "षट् जीवनिकाय" का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। कहा भी है—"**पढम नाण तओ दया।**" —प्रथम ज्ञान और तत्पश्चात् अहिसा। जिनवचन स्याद्वादगर्भित वचन है, अत नयो का यथार्थ ज्ञाता एव आगमो के अनुरूप जीवन यापन करने वाला मुनि ही अहिसा का पूर्ण पालन कर सकता है।

इस लोक मे अथवा परलोक मे जीवो को कदापि किसी प्रकार का भय उत्पन्न न हो, इस प्रकार का व्यवहार करने वाला व्यक्ति ही "अभय दान" का दाता माना जाता है। यदि सर्वथा हिंसा से विरत होने की भावना वाला हो तो श्रावक को भी अशन देश से ऐसा अभयदान हो सकता है। इस भावना के बिना तो दान "देकर पुन ले लेने" जैसा माना जाता है। उन्हे भय उत्पन्न हो ऐसा व्यवहार पुन करना तो देकर छीन लेने के समान है।

ज्ञानदान अथवा अभयदान हो, परन्तु वे क्षमा एव विरति से युक्त होने चाहिए, अन्यथा वे तिरस्कार के पात्र होते है, हास्यास्पद होते हैं, सत्कार एवं गौरव के पात्र कदापि नही होते। अहिसा (अभय) को पूर्णत सफल करने के लिये, शोभापात्र बनाने के लिए मैत्री एव क्षमा को अग्र स्थान देना चाहिये। ज्ञान के बिना ज्ञानदान नही हो सकता, धन आदि सामग्री के बिना सुपात्रदान नही किया जा सकता, उसी प्रकार से मैत्री के बिना वास्तविक "अभयदान" भी दिया नही जा सकता।

ज्ञानदान के लिए ज्ञान-सम्पत्ति चाहिये, सुपात्रदान के लिये धन-सम्पत्ति चाहिये, इस तरह अभयदान देने वाले व्यक्ति के पास मैत्री, क्षमा एव विरति रूपी भाव-सम्पत्ति होनी आवश्यक है। समता अभयदान का प्रधान फल है।

"साम" सामायिक मे मैत्री और करुणा भावना की प्रधानता होती है। साम सामायिक धारण करने वाले साधक मे मैत्री और करुणा भावना के निर्मल स्रोत सदा निरन्तर प्रवाहित होते ही रहते है।

"कोई भी जीव पाप न करे, कोई भी जीव दु खी न हो, समस्त जीव कर्म मुक्त बनें"—ऐसी विशुद्ध भावना के बल से स्वय साधक भी ऐसा जीवन व्यतीत करने का प्रयास करता है, जिससे कोई भी जीवात्मा किसी भी प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक वेदना प्राप्त न करे।

मैत्री भाव की मधुरता का आनन्द लेने वाले साधक को "साम सामायिक" अवश्य होती है। साम सामायिक मुख्यत सम्यक्त्व सामायिक को सूचित करती है। सम्यग्दृष्टि एव देश-विरति श्रावक भी उसका अधिकारी होता है।

साम सामायिक के अभ्यास से ही तुल्य परिणाम रूप "सम सामायिक" की प्राप्ति एव सिद्धि होती है।

समता सर्वभूतेषु सयम शुभ भावना।
आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिक व्रतम् ॥१॥

"समस्त जीवो के प्रति समता, मन, वचन और काया के पाप—व्यापार का त्याग रूप सयम, मैत्री, करुणा, प्रमोद एव मध्यस्थ आदि भावना और आर्त्त एव रौद्रध्यान का त्याग सामायिक व्रत है।"

यह श्लोक सामायिक का रहस्य स्पष्ट करता है।

सामायिक व्रत मे अभयदान, मैत्री, क्षमा, सयम आदि भाव-सम्पत्ति का भी समावेश है, अर्थात् ये दोनो एक-दूसरे के पूरक है।

समस्त जीवो के प्रति मैत्री रखने से सयम सुलभ होता है, मन, वचन और काययोग की अशुभ प्रवृत्तियाँ रुक जाती है, तथा इन्द्रियो के विषयो एव क्रोधादि कषायो पर नियन्त्रण होता है और उससे ही हिंसा आदि आस्रवो का निरोध होता है।

ज्यो-ज्यो सयम साधना उत्कृष्ट बनती है,त्यों-त्यों मैत्री प्रमोद आदि भावनाये भी विशुद्ध होती जाती हैं और उससे आर्त्तरौद्रध्यान का सर्वथा परित्याग होने पर चित्त धर्मध्यान एव शुक्ल-ध्यान में लीन होता है तथा धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है।

इस प्रकार समस्त जीवो के प्रति मैत्री संयम की साधक होती है। संयम मैत्री आदि भावनाओ को सुविशुद्ध करता है और विशुद्ध भावनाये अशुद्ध ध्यान का सर्वथा निरोध करके शुभ ध्यान उत्पन्न करती है।

सामायिक व्रत में मैत्री आदि भावना से जिनोक्त तत्त्व का चिन्तन होता है तब वह "अध्यात्म योग" कहलाता है और उस शुभ भावना का सतत अभ्यास "भावनायोग" है और उसके फलस्वरूप चित्त की शुद्धता मे वृद्धि होने पर "ध्यानयोग" का प्रारम्भ होता है। इसके अनुसार "साम सामायिक" मे तीन योग घटित हो सकते हैं। उपर्युक्त श्लोक में इन तीनो योगों का निर्देश है।

"सर्वभूतेषु समता" —समस्त जीवो के प्रति सामान्य मैत्री रखकर सयम का पालन करना "अध्यात्म योग" है। "शुभ भावना" "भावना-योग" को और "आर्त्तरौद्रपरित्याग." "ध्यानयोग" को सूचित करता है। इन अध्यात्म आदि तीनों योगो का फल "समतायोग" है।

(२) सम सामायिक का स्वरूप—

राग-द्वेष के प्रसंगो में भी चित्त का सन्तुलन रखकर मध्यस्थ रहना, अर्थात् सर्वत्र समान व्यवहार करना उसे "सम" कहते है। सम, प्रशम, उपशम, समता, शान्ति आदि इसके ही पर्यायवाची नाम हैं। इसकी प्राप्ति के लिये विधिपूर्वक सत्शास्त्रो का अध्ययन करना आवश्यक है।

कर्माधीन जीव को इस ससार मे प्राय. ऐसे अनेक प्रसगो मे से गुज-रना पडता है जिसमे राग-द्वेष की वृत्तियाँ उत्पन्न हुए बिना नही रहती, परन्तु शास्त्रो के अध्ययन, मनन एवं परिशीलन से चित्त अभ्यस्त बना हुआ हो तो जड एव चेतन पदार्थो के विविध स्वरूप एव स्वभाव आदि का ज्ञान होने से इष्ट-अनिष्ट पदार्थो अथवा सयोग-वियोग के प्रसगो मे चित्त का सन्तुलन बनाये रख सकते है, मध्यस्थभाव अपना सकते है।

सयम-जीवन मे शास्त्राध्ययन की अनिवार्यता है। शास्त्राध्ययन के सद्गुरु की सेवा (उपासना) आवश्यक है। इस कारण ही गुरुकुल-

वास मे रहकर पाँच-पाँच प्रहर तक सतत आगमाध्ययन करने का शास्त्रीय विधान है।

आगमिक ज्ञान से परिणत वने हुए मुनियो की चित्त-वृत्ति, अत्यन्त निर्मल एय स्थिर होती जाती है, जिससे वे परमात्मा एव आत्मा के ध्यान मे मग्न होते है और ध्यान-मग्न मुनि "समता" प्राप्त करते है।

ध्यानाध्ययनाभिरत' प्रथम पश्चात् तु भवति तन्मयता।
सूक्ष्मार्थालोचनया सवेग स्पर्शयोगश्च ॥

(पोडशक)

"सयम अगीकार करने वाले साधु की सर्वप्रथम शास्त्राध्ययन और ध्यानयोग मे निरन्तर प्रवृत्ति होती है, तत्पश्चात् इन दोनो मे तन्मयता हो जाती है, तथा तत्त्वार्थ के सूक्ष्म चिन्तन से तीव्र सवेग एव स्पर्श-योग भी प्रकट होता है।"

इस प्रकार "सम परिणाम" वाली सामायिक में शास्त्र योग (वचन-अनुप्ठान) और ध्यानयोग की प्रधानता होती है, क्योकि शास्त्राध्ययन अथवा ध्यानाभ्यास के विना तात्विक समता प्रकट नही हो सकती।

अध्यात्म एव योगशास्त्रो के अध्ययन से समस्त जीवो के साथ समानता एव आत्मा के विशुद्ध स्वरुप का ज्ञान तथा उसमे तन्मय होने की कला ज्ञात होती है।

आगमिक ज्ञान से द्रव्यानुयोग आदि की सूक्ष्म तत्व दृष्टि प्राप्त होने पर धर्म-ध्यान एव शुक्लध्यान का सामर्थ्य प्राप्त होता है। स्याद्वाद एव कर्मवाद के अध्ययन-मनन से समस्त दर्शनो एव समस्त जीवो के प्रति समदृष्टि एव ससार की अनेक विचित्रताओ के मूलभूत कारणो का ज्ञान होने पर सत्यदृष्टि प्राप्त होती है। तुला के दोनो पलडो की तरह सर्वत्र समभाव प्रकट करने के लिये सत्शास्त्रो का अभ्यास एव ध्यान का सतत सेवन करना आवश्यक है।

तुल्य परिणाम रूप सम सामायिक के लक्षण वताते हुए शास्त्रकार महर्षियो का कथन है कि—"समस्य रागद्वेषान्तरालवर्तितया मध्यस्थस्य सत' आय (सम्यग्दर्शनादि लक्षण) इति सामायः तदेव सामायिकम्"।

राग-द्वेष के प्रसगो में भी राग-द्वेष के मध्य रहने से अर्थात् मध्यस्थ होने से सम अर्थात् सम्यदग्र्शन आदि गुणो का लाभ होता है। वह "सम सामायिक" है।

इस प्रकार सम सामायिक और समता की एकता ज्ञात होती है। तुल्य परिणाम रूप समता श्रुतज्ञान एवं ध्यान के सतत अभ्यास से प्रकट होती है, अर्थात् समता श्रुतज्ञान एव शुभ ध्यान का फल है।

"योगबिन्दु" मे ध्यान का फल बताते हुए कहा गया है कि—"चित्त की सर्वत्र स्वाधीनता, भाव (परिणाम) की स्थिरता और कर्म के अनुबन्ध का विच्छेद ध्यानयोग का फल है।"

श्रुतज्ञान के अभ्यास से चित्त-वृत्तियाँ जब स्थिर बनती है, तब ध्यान का प्रारम्भ होता है और उस ध्यान के सतत अभ्यास के पश्चात् चित्त स्वाधीन बनता है, अर्थात् चित्त साधक की इच्छा का अनुसरण करता है। मन की स्वाधीनता सिद्ध होने से आत्म-परिणाम विशुद्ध बनते है, सात्विक एवं उत्तम विचारो के प्रवाह से निम्न कोटि के विचारो का प्रवेश रुक जाता है, जिससे अशुभ कर्मो का बन्ध नही हो सकता।

मन की स्वाधीनता से अनेक प्रकार की लब्धियाँ एव सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, फिर भी योगी पुरुष उस ओर समता, मध्यस्थता और उदासीनता ही रखते हैं। शत्रु अथवा मित्र, राजा अथवा रक, ग्राम अथवा नगर, तृण अथवा मणि में सर्वत्र तुल्य वृत्ति रखना ही समता है। कोई निन्दा करे अथवा प्रशसा करे, कभी इष्ट संयोग प्राप्त हो अथवा कभी अनिष्ट सयोग प्राप्त हो तो भी सम्यग्ज्ञान के बल से "समताभाव" रखा जा सकता है क्योकि यह श्रुतज्ञान का फल है।

सम सामायिक का महत्व

समता समस्त गुणो मे सर्वोपरि है। उसका सर्वाधिक महत्व बताते हुए कहा है कि समता विहीन ज्ञान, ध्यान, तप, शील और सम्यक्त्व आदि गुण अपना वास्तविक फल देने मे विफल सिद्ध होते हैं। समतावान् साधु जो गुणो का विकास एवं गुणस्थानक की उत्तरोत्तर भूमिका प्राप्त कर सकता है, वह ज्ञान आदि गुणो वाला समता विहीन व्यक्ति नही प्राप्त कर सकता।

जो समतावान् साधक समस्त जीवो (त्रस-स्थावर) के प्रति सम परिणाम वाला होता है, उसे ही सर्वज्ञ-कथित यह सामायिक होती है।

(२) सम्म (सम्यक्) सामायिक का स्वरूप—

सम्यक् परिणामस्वरूप इस सामायिक मे सम्यक्त्व, ज्ञान एवं चारित्र का परस्पर सम्मिलन होता है। जिस प्रकार दूध मे शक्कर मिल जाती है,

उसी प्रकार से आत्मा मे रत्नत्रयी का परस्पर एकीकरण हो जाना ही 'सम्म सामायिक' है। इस सामायिक मे शान्ति-समता का अस्खलित प्रवाह होने लगता है, चन्दन की सुगन्ध की तरह समता आत्मसात् वन गई होती है। कहा भी है—"जिस मुनि को आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन और विशेष ज्ञान हुआ है अर्थात्—"मेरी आत्मा भी अनन्त ज्ञान आदि गुणपर्याय से युक्त है" ऐसी सम्यक् श्रद्धा एव ज्ञान के साथ आत्म-स्वभाव मे स्थिरता रमणता, तन्मयता प्राप्त हुई हो, उसे ही आत्म-स्वभाव की आनन्दानुभूति होती है। उन्हे ही "सम्म सामायिक" होती है।"

योग की सातवी एव आठवी दृष्टि से प्राप्त होने वाले समस्त गुण इस सामायिक का स्वरूप स्पष्ट रूप से समझाने मे सहायक होते हैं, तथा ध्यान की परम प्रीति, तत्वप्रतिपत्ति, शमयुक्तता, समाधिनिष्ठता, असग-अनुष्ठान, आसग आदि दोषो का अभाव, चन्दन-गध सदृश सात्मीकृत प्रवृत्ति, निरतिचारता आदि सद्गुण भी इस भूमिका मे अवश्य प्राप्त होते हैं।

ज्ञानसुधा के सागर तुल्य, परब्रह्म शुद्ध ज्योतिस्वरूप आत्म-स्वभाव में मग्न बने हुए मुनि को अन्य समस्त रूप—रस आदि पौद्गलिक विषयो की प्रवृत्ति विषतुल्य भयकर एव अनर्थकारी प्रतीत होती है। अन्तरग सुख का रसास्वादन करने के पश्चात् बाह्य-सुख, सिद्धि एव ख्याति की समस्त प्रवृत्तियो के प्रति उदासीनता हो जाती है।

विश्व के समस्त चराचर पदार्थों का जो स्याद्वाद दृष्टि से अवलोकन करता है ऐसे आत्मस्वभावमग्न मुनि को किसी को किसी भी पदार्थ का कर्तृत्व नही होता, केवल साक्षी भाव रहता है, अर्थात् तटस्थता से वह समस्त तत्त्वो का ज्ञाता होता है, परन्तु कर्त्ता होने का अभिमान नही कर सकता।

समस्त द्रव्य स्व-स्व परिणाम के कर्त्ता है, परपरिणाम का कोई कर्त्ता नही है। इस भाव के द्वारा समस्त भावो का कर्तृत्व हटाकर साक्षी भाव रखने का अभ्यास किया जा सकता है।

इस सामायिक वाले साधु के चारित्र पर्याय की ज्यो-ज्यो वृद्धि होती जाती है, त्यो-त्यो उसके चित्त सुख (तेजोलेश्या) मे वृद्धि होती जाती है। बारह महीनो के पर्यायवाले मुनि के सुख की तुलना अनुत्तरवासी देवो के सुख के साथ भी नही हो सकती, अर्थात् उनकी अपेक्षा भी मुनि का समता-

सुख विशिष्ट कोटि का होता है। स्वयभूरमण समुद्र से स्पर्द्धा करने वाले समतारस मे मग्न मुनि से उपमा दी जाये ऐसा कोई पदार्थ इस विश्व मे नही है।

इस सामायिक मे "सामर्थ्य योग" एव असग अनुष्ठान की प्रधानता होती है। "असग अनुष्ठान" के सम्बन्ध मे "ज्ञानसार" में भी कहा है कि —"वचन अनुष्ठान (शास्त्रोक्त क्रिया) के सतत सेवन से निर्विकल्प समाधिरूप असग क्रिया की योग्यता प्रकट होती है और यह ज्ञान-क्रिया की अभेद भूमिका है, क्योकि असग भावरूप क्रिया शुद्ध उपयोग एव शुद्ध वीर्योल्लास के साथ तादात्म्यता रखती है और वह आत्मा के सहज आनन्दरूप अमृत रस से आर्द्र होती है।

इस सामायिक मे रहे हुए महामुनि ज्ञानामृत का पान करके, क्रियारूपी कल्पलता के मधुर फलो का भोजन करके और समता भाव रूपी ताम्बूल का आस्वादन करके परम तृप्ति का अनुभव करते है।

सम्म सामायिक का लक्षण

सम्यक्परिणामरूप सम्म सामायिक का स्वरूप बताते हुए शास्त्रकार महर्षि कह रहे है कि—**"समाना (मोक्षसाधन प्रति सदृश सामर्थ्याना) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां आय. (लाभः) इति समायः तदेव सामायिकम्।"**

मोक्ष के साधक के रूप मे समान सामर्थ्य रखने वाले सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का लाभ "सामायिक" है। यहाँ रत्नत्रयी की एकता होने पर भी चारित्र की प्रधानता है। चारित्र की उपस्थिति में सम्यक्त्व एव ज्ञान अवश्य होते हैं, परन्तु उसकी अनुपस्थिति मे सम्यक्त्व एव ज्ञान अल्प शक्तियुक्त होते है। चारित्र की प्राप्ति होते ही उन दोनो का सामर्थ्य प्रबल हो जाता है।

इस प्रकार साम, सम और सम्म परिणामरूप सामायिक में क्रमश सम्यग्दर्शन, ज्ञान एव चारित्ररूप रत्नत्रयी का समावेश है।

"समग्र मोक्षमार्ग सामायिक रूप है" —यह बात इस प्रकार सिद्ध हो जाने से समस्त प्रकार की योग-साधनाओ, अध्यात्म साधनाओ अथवा मत्र–जाप–ध्यान आदि विविध अनुष्ठानो का उसमे अन्तर्भाव हो चुका है, यह मानने मे तनिक भी अत्युक्ति नही है।

इस सर्वोत्तम सामायिकधर्म को स्वय तीर्थकर भगवान स्वीकार करते है और उसके सुविशुद्ध पालन से केवलज्ञान (सम्पूर्ण ज्ञान) प्राप्त

करके उसी सामायिक धर्म का उपदेश देते है। तीर्थ की स्थापना करने के पीछे भी सामायिक धर्म के दान का उदात्त उद्देश्य निहित है।

जिससे तरा जाये—भवसागर पार किया जा सके—वह तीर्थ होता है। चतुर्विध सघरूप अथवा द्वादशागीरूप तीर्थ की सेवा से ही "सामायिक धर्म" की प्राप्ति हो सकती है।

सामायिक साध्य है तीर्थसेवा उसका साधन हे। देव, गुरु एव धर्म की सेवा (उपासना) तीर्थ की ही सेवा (उपासना) है। सामायिक के प्रतिज्ञासूत्र मे अथवा उसकी साधनभूत अन्य प्रक्रियाओ मे देव, गुरु और धर्म के निर्देश दिये गये है।

सामायिक के अतिरिक्त शेष पाँचो आवश्यको का विधान "सामायिक" की ही पुष्टि के लिये है। "चतुर्विशतिस्तव" और "वन्दन आवश्यक" के द्वारा देवाधिदेव अरिहन्त परमात्मा और सद्गुरु की स्तुति सेवा करने का निर्देश है। "प्रतिक्रमण" के द्वारा सामायिक धर्म की शुद्धि एव "कायोत्सर्ग" तथा "प्रत्याख्यान आवश्यक" के द्वारा उसकी विशेष शुद्धि एव पुष्टि होती है। परमार्थ से प्रत्येक सामायिक आदि आवश्यक शेष समस्त आवश्यको के साथ सकलित है। एक एक आवश्यक मे अन्य आवश्यक भी गौण भाव से समाविष्ट हैं। सामायिक सूत्र की रचना मे गुम्फित शब्द ही यह रहस्य प्रकट करते हैं।

"करेमि भते सामाइय" ये शब्द "सामायिक" एव "चउवीसत्थो" के सूचक हैं।

"सावज्ज जोग पच्चक्खामि" ये शब्द प्रत्याख्यान बताते है।

"तस्स भते" शब्द "गुरुवन्दन" को सूचित करते है।

"पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि" शब्द "प्रतिक्रमण" के बोधक है।

"अप्पाण वोसिरामि' पद "कायोत्सर्ग" को सूचित करता है।

इस प्रकार सामायिक मे छ ओ आवश्यक विद्यमान हैं, अत सामा- जैनागम का—जैन शासन का—मूल है, द्वादशागी का रहस्य है, भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, चारित्रयोग, ध्यानयोग, अष्टागयोग तथा समापत्ति, समाधि अथवा हठयोग, राजयोग आदि समस्त योगसाधनाओ का उसमे समावेश है, जिससे "सामायिक" योगाधिराज है।

आवश्यक और आचार

सामायिक आदि आवश्यको के द्वारा पाँचो ज्ञान आदि आचारो की शुद्धि एव पुष्टि होती है।

(१) "सामायिक" के द्वारा सावद्य योग की विरति एवं निरवद्य योगो का सेवन होने से मुख्यत चारित्राचार की विशुद्धि होती है।

(२) "चतुर्विंशतिस्तव" के द्वारा जिनेश्वर भगवानो के सद्भूत-गुणो का स्तवन (कीर्तन) होने से दर्शनाचार की विशुद्धि होती है। परमात्म-भक्ति सम्यग्दर्शन प्रकट करती है अथवा प्रकट किये गये सम्यग्दर्शन को अत्यन्त निर्मल बनाती है।

(३) "गुरुवन्दन" के द्वारा ज्ञान आदि गुणो से युक्त गुरु भगवतो की प्रतिपत्ति (सेवा) होती होने से "ज्ञानाचार" आदि की विशुद्धि होती है।

(४) "प्रतिक्रमण" के द्वारा ज्ञान आदि आचारो के पालन मे हुई स्खलनाओ की निन्दा, गर्हा, पश्चाताप आदि करके ज्ञान आदि आचारो की शुद्धि की जाती है।

(५) "कायोत्सर्ग" ध्यान एव समाधियोगस्वरूप है। इसके द्वारा मन, वचन और काय योगो का प्रतिज्ञा पूर्वक निरोध किया जाता है, जिस से कायोत्सर्ग के द्वारा ज्ञान आदि आचारो की विशेष शुद्धि होती है।

(६) "प्रत्याख्यान" के द्वारा उपवास आदि तप की आराधना होने से "तपाचार" की विशुद्धि होती है।

उपर्युक्त छओ आवश्यको की आराधना (उपासना) के द्वारा आत्मवीर्य (आत्मशक्ति) की वृद्धि होती है जिससे "वीर्याचार्य" की शुद्धि और पुष्टि होती है।

वर्तमान मे सामायिक का प्रयोग

सामायिक विशुद्ध समाधिस्वरूप है और वह जिन-भक्ति, गुरुसेवा आदि के सतत अभ्यास से ही सिद्ध होती है। इस कारण ही सामायिक लेने की विधि मे भी छओ आवश्यको का सग्रह किया गया है, जो निम्न-लिखित है—

(१) सर्व प्रथम दिया जाने वाला "खमासमण" गुरुवन्दन को सूचित करता है।

(२) "इर्यावहिय" प्रतिक्रमण व्यक्त करता है।

(३) एक लोगस्स का काउस्सग्ग "कायोत्सर्ग" का वोधक है ।

(४) प्रकट लोगस्स "चतुर्विंशतिस्तव" का वोधक है ।

(५-६) "करेमि भन्ते" सूत्र के उच्चार के द्वारा "सामायिक" एव सावद्य योग के "प्रत्याख्यान" का निर्देश हे ।

इस प्रकार "सामायिक धर्म" की आराधना और उसे स्वीकार करने की स्मृति कराने के लिये श्रमण सघ मे प्रतिदिन नौ वार "करेमि भन्ते सूत्र" का प्रयोग होता है और श्रावक सघ के लिये "वहुसो सामाइय कुज्जा" वार वार सामायिक करने का शास्त्रीय विधान है। सामायिक ग्रहण करने की विधि मे जिस प्रकार छ आवश्यको की व्यवस्था की गई हे, उसी प्रकार मे "प्रतिक्रमण" की विधि मे भी विस्तृत रीति से छ आवश्यको की आराधना का समावेश हे ।

चतुर्विध सघ मे उभय काल "प्रतिक्रमण आवश्यक" की विधि अत्यन्त प्रसिद्ध है, अवश्य करने योग्य कर्त्तव्यो के रूप मे सभी लोग इनसे परिचित हैं ।

सामायिक एव प्रतिक्रमण आदि आवश्यक प्रक्रियायें प्रणिधान, भावोल्लास एव एकाग्रता पूर्वक करने से उनके सूक्ष्म रहस्य एव उत्तम परिणाम साधक के अनुभव मे आये विना नही रहते ।

सामायिक और प्रतिक्रमण ध्यान एव सामाधि स्वरूप हैं इसकी भी प्रतीति होगी ।

उपयोग (एकाग्रता) पूर्वक की जाने वाली "सामायिक" आदि आवश्यको की आराधना "महान् राजयोग" एव "समाधियोग" है ।

इस प्रकार 'सामायिकधर्म' समस्त योगो का सार एव समस्त योगो का सिरमौर होने से "योगाधिराज" है ।

जिनकी कृपा, प्रेरणा एव मार्गदर्शन के वल से सामायिक धर्म के परम रहस्यो को यत्किंचित रूप मे समझने के लिये, आत्मसात् करने के लिये और स्व-पर आत्मा के हितार्थ भाषावद्ध करने के लिये स्वल्प उद्यम कर सका हूँ, उन परमोपकारी, पूज्यपाद पन्यास प्रवर श्री भद्र कर विजय जी महाराज के अगणित उत्तम गुणो एव मुझ पर किये गये असीम उपकारो को वार वार स्मरण करने के साथ उनके पावन चरण कमलो मे अनन्तश वन्दना करके कृतार्थता-कृतज्ञता का अनुभव करता हूँ ।

अन्त में इस ग्रन्थ-लेखन में शास्त्रकार ज्ञानी पुरुषो के आशय से विरुद्ध जाने-अजाने कुछ भी लिखा गया हो उसके लिये त्रिविध से "मिच्छामि दुक्कडम्" देकर सभी मुमुक्षु आत्मा इस सामायिक धर्म के उपासक (आराधक) बने यही मंगल कामना।

—आचार्य विजयकलापूर्ण सूरि

●●

क्या?...कहाँ?...

१. सामायिक का महत्व

अनन्तानन्त श्री तीर्थंकर भगवान जिस सामायिक धर्म को अङ्गीकार करके, जीवन मे उसका साक्षात्कार करके केवलज्ञानी बनते हैं, सर्वप्रथम वे उसी सामायिक धर्म का उपदेश देते हैं।

इसी प्रकार मे चरम तीर्थाधिपति श्री महावीर भगवान ने भी सर्व-प्रथम सामायिक धर्म का उपदेश दिया है। वह उपदेश आज भी आगम ग्रन्थो मे यथार्थ रूप मे विद्यमान है, जिसके अध्ययन-मनन से हम सब सामायिक धर्म मे यथाशक्ति श्रद्धा से एव उसके आचरण के द्वारा आत्मिक आनन्द का आंशिक रूप मे अनुभव कर सकते हैं।

जिनागम का उद्भव

जिनागमो की किस प्रकार, किसके द्वारा रचना की गई, इस सम्बन्ध मे आगम ग्रन्थो मे एक सुन्दर रूपक के द्वारा उन्हे स्पष्ट किया गया है।

तप, नियम एव ज्ञान रूपी वृक्ष पर आरूढ अपरिमित ज्ञानी श्री तीर्थंकर भगवान भव्य आत्माओ को बोध देने के उद्देश्य से वचन रूपी पुष्पो की वृष्टि करते हैं, जिसे गणधर भगवन्त बुद्धिमय पट (वस्त्र) के द्वारा सम्पूर्णतया ग्रहण करके प्रवचन-शासन के हितार्थ सूत्र रूप मे गुम्फित करते हैं।[1]

तीर्थ की स्थापना करने के पश्चात् तीर्थंकर भगवान जो अर्थ स्वरूप प्रवचन देते हैं उसे बीज-बुद्धि-निधान श्री गणधर भगवान सूत्रबद्ध करते हैं, जिससे श्रुत बनते हैं।[2]

---

१ तव नियमनाणरुक्ख आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठि भवियमणविबोहणट्ठाए॥
त बुद्धिमएण पटेण गणहरा गिण्हिउ निरवसेस।
तित्थयर भासियाइ गथति तओ पवयणट्ठा॥

२ अत्थ भासइ अरहा सुत्त गथति गणहरा निउण।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्त पवत्तइ॥९२॥ —आवश्यक निर्युक्ति

इस प्रकार प्रत्येक आगम ग्रन्थ का मूल जिनेश्वर भगवान के उपदेश मे निहित है। इस कारण ही तो आगम "जिनागम" कहलाते हैं और उन्हें जिनेश्वर भगवान की तरह ही पूजनीय एव आदरणीय माना जाता है।

परमात्मा द्वारा उपदिष्ट मोक्ष-मार्ग युग-युगान्तर तक भव्य आत्माओ का आलम्बन-भूत बनकर संसार-तारक बना रहे और इस मोक्ष-मार्ग की आराधना अविच्छिन्न रूप से चलती रहे, ऐसी कल्याण कामना से ही गणधर भगवान प्रभु की वाणी को शब्द-देह प्रदान करते हैं, द्वादशाङ्गी की रचना करते हैं।

सूत्र-बद्ध आगम ग्रन्थो की महानता, गम्भीरता एव गहनता को विशिष्ट प्रज्ञावान महापुरुषों के अतिरिक्त कोई भी नहीं नाप सकता। मन्द-बुद्धि व्यक्तियो का तो उसमे चंचु-पात होना भी असम्भव है, परन्तु विश्व मात्र की कल्याण-भावना से परिपूर्ण हृदय वाले महान उपकारी, महान् ज्ञानी, गीतार्थ महापुरुषों ने आगम ग्रन्थो के गुप्त रहस्यमय गम्भीर तथ्यो को स्पष्ट, स्पष्टतर एवं स्पष्टतम करने के लिए इन आगम ग्रन्थों पर क्रमशः निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एव वृत्ति आदि की विशद रचनाएँ की हैं, जिसका गीतार्थ सद्गुरुओ से अध्ययन, पठन एव मनन करके मन्द-बुद्धि मुमुक्षु आत्मा भी आत्मिक उत्थान का मार्ग-दर्शन प्राप्त करके स्व-पर के आत्म-कल्याण की साधना करते-करते साध्य-सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं।

समस्त जिनागमो में "आवश्यक सूत्र" का स्थान-मान अग्रगण्य एव अद्वितीय है, जिसमें चतुर्विध संघ के दैनिक कर्तव्यस्वरूप आवश्यक क्रिया का विशद निरूपण किया गया है।

छः आवश्यक और उनमें प्रथम सामायिक—

(१) सामायिक आवश्यक।
(२) चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक।
(३) गुरु-वन्दन आवश्यक।
(४) प्रतिक्रमण आवश्यक।
(५) कायोत्सर्ग आवश्यक।
(६) प्रत्याख्यान आवश्यक।

केवल-ज्ञानी बनने के पश्चात् अरिहन्तो द्वारा स्व-मुख से भाषित तथा विचक्षण बुद्धिधारी गणधरों द्वारा भावी शासन के हितार्थ रचित श्रुत क्या है? उसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि सामायिक से लगाकर

बिन्दुसार (चौदहवें पूर्व) तक श्रुतज्ञान है। उक्त श्रुतज्ञान का सार चारित्र (सामायिक) है और चारित्र का सार निर्वाण-मोक्ष सुख है।[1]

इस प्रकार "सामायिक धर्म" प्रभु का प्रमुख उपदेश होने से प्रथम उस विषय मे ही विचार करेंगे।

"सामायिक" आवश्यक का मूल है, जिन-शासन का प्रधान अग है। अत्यन्त अद्भुत है इसका प्रभाव एव प्रताप! शमन हो जाते है इससे आधि, व्याधि एव उपाधि के समस्त ताप एव सन्ताप!

सामायिक दिव्य ज्योति है, जो मोहान्धकार से व्याप्त इस विश्व मे मोक्ष-मार्ग को प्रकाशित करती है, अज्ञानतिमिराच्छादित जीवो के मन-मन्दिर मे सम्यग्ज्ञान की ज्योति प्रसारित करती है।

सामायिक अकल्पीय चिन्तामणि है, अपूर्व कल्प-वृक्ष है, जिसके प्रभाव से साधक की साधना फलवती होती है और समस्त शुभ कामनाएँ पूर्ण होती हैं।

सामायिक सर्वत्रगामी चक्षु है। प्रशमरसमग्न मुनि ज्ञान-चक्षुओ के खुलने पर क्रमश समस्त पदार्थों का ज्ञाता एव द्रष्टा हो जाता है।

सामायिक परम मन्त्र है, जिसके प्रभाव से राग-द्वेष का मारक विष भी पल भर में उतर जाता है।

सामायिक जिनाज्ञा स्वरूप है।

आश्रव के सर्वथा त्याग एव सवर के स्वीकार को जिनाज्ञा कहते है।

सामायिक के द्वारा समस्त पापो का परिहार एव ज्ञान आदि सदनुष्ठानो का सेवन होता है। अत उसमे समस्त आस्रवो का निरोध एव सम्पूर्ण सवर भाव समाविष्ट है।

सामायिक जिनाज्ञा की तरह समस्त शास्त्रो एव अनुष्ठानो मे व्याप्त है।

१. सामायिक मे रत्नत्रयी है, रत्नत्रयी मे सामायिक है :—

श्रुत-सामायिक 'सम्यग्ज्ञान" स्वरूप है।

सम्यक्त्व सामायिक "सम्यग्-दर्शन" स्वरूप है।

चारित्र सामायिक 'सम्यक्-चारित्र" स्वरूप है।

---

१ सामाइयमाईय सुयनाण जाव बिन्दुसाराओ।
तस्स वि सार चरण, सारो चरणस्स निव्वाण ॥९३॥ —आवश्यक निर्युक्ति

२. सामायिक में तत्त्वत्रयी एव तत्वत्रयी मे सामायिक :—

सामायिक सूत्र में प्रथम "भन्ते" शब्द देव तत्त्व का सूचक है, अन्तिम "भन्ते" शब्द गुरु तत्त्व का सूचक है और "सामायिक" शब्द चारित्र-धर्म का सूचक है।

देवाधिदेव अरिहन्त परमात्मा मे सम्पूर्ण चारित्र निहित है, गुरु तत्त्व मे सर्वविरति चारित्र है और धर्म तो स्वय सामायिक स्वरूप है ही।

इस प्रकार सामायिक, रत्नत्रयी और तत्त्वत्रयी परस्पर एक दूसरे से सकलित हैं।

३ सामायिक मे पच परमेष्ठि और पच परमेष्ठि मे सामायिक :—

उपर्युक्त तत्त्वत्रयी मे "देव तत्त्व" अरिहन्त एव सिद्ध स्वरूप है।

गुरु तत्त्व आचार्य, उपाध्याय एव साधु स्वरूप है।

धर्म तत्त्व सम्यगज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप स्वरूप है।

इस प्रकार नव पद (नौ पद) एव सामायिक भी एक-दूसरे में सन्निहित है।

सामायिक मे शरणागति, दुष्कृत-गर्हा एवं सुकृत अनुमोदन भी निहित है।

'भन्ते' पद से अरिहन्त आदि की शरणागति स्वीकार की जाती है।

पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि पदो के द्वारा स्वदुष्कृतो की निन्दा की जाती है।

'करेमि सामाइयं' पद से सुकृत का सेवन एवं अनुमोदन होता है।

सामायिक मोक्ष का अनन्य कारण है।

'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्ष'—सम्यगज्ञान और क्रिया दोनो के सम्मिलन से ही मोक्ष होता है।

सामायिक ज्ञान एवं क्रिया उभय स्वरूप है।

नमस्कार महामन्त्र के उच्चारण पूर्वक ही सामायिक स्वीकार की जाती है।

नमस्कार महामन्त्र पच मगल श्रुतस्कन्ध स्वरूप द्वादशागी का सार होने से सम्यगज्ञान स्वरूप है और सामायिक सम्यग्-चारित्र स्वरूप होने से सम्यक् क्रिया है।

इस प्रकार श्रुत सामायिक ज्ञान स्वरूप एव चारित्र सामायिक सम्यक् क्रिया स्वरूप है।

सामायिक में रत्नत्रयी, तत्त्वत्रयी, पच परमेष्ठी, षड् आवश्यक, पचाचार, पच महाव्रत और अष्ट प्रवचन माता तथा दस यतिधर्म आदि समस्त मोक्ष-साधक सदनुष्ठान सग्रहीत हैं। इस कारण ही 'सामायिक' को अत्यन्त विशाल, गम्भीर एव सर्व धर्म-व्यापी मानी गई है।

सामायिक शाश्वत है, क्योकि—

नमस्कार महामन्त्र के द्वारा 'करेमि भन्ते' सूत्र का उच्चार करने से सामायिक की प्रतिज्ञा पूर्ण होती है और समस्त कालो मे, समस्त क्षेत्रो मे प्रत्येक तीर्थकर परमात्मा भी इस सूत्र के द्वारा ही सर्वविरति अगीकार करते हैं।

सामायिक श्रुतज्ञान है, चौदह पूर्व का सार है तथा उसका बीज स्वरूप है।

शब्दो के परिणाम से यह अल्पाक्षरी है, फिर भी अर्थ से यह अत्यन्त विशाल एव गम्भीर है। समग्र द्वादशागी का अर्थ इसमे समाविष्ट है।

सामायिक समस्त गुणो मे व्याप्त है, समस्त गुणो का, समस्त महाव्रतो का आधार सामायिक है। समता भाव के बिना तो समस्त अनुष्ठान निरर्थक, निष्फल माने जाते है।

आज तक जो पुण्यात्मा मोक्ष गये हैं, जा रहे हैं, और जायेंगे वह सब सामायिक धर्म का ही अकल्पनीय प्रभाव है।

सामायिक सूत्र मे छहो आवश्यको का निर्देश—

षड् आवश्यको का मूल सूत्र सामायिक सूत्र (करेमि भन्ते) है जिसमे छहो आवश्यक गर्भित रूप मे निहित हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) 'सामाइय' पद 'सामायिक आवश्यक' को सूचित करता है।

(२) प्रथम 'भन्ते' पद से 'चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक' सूचित होता है।

(३) द्वितीय 'भन्ते' पद से 'गुरु वन्दन आवश्यक' सूचित होता है।

(४) 'पडिक्कमामि' पद 'प्रतिक्रमण आवश्यक' का सूचक है।

(५) 'अप्पाण वोसिरामि' पद के द्वारा 'कायोत्सर्ग आवश्यक' ज्ञात होता है।

(६) 'पच्चक्खामि' पद 'पच्चक्खाण आवश्यक' को सूचित करता है।

२. सामायिक का स्वरूप

सामायिक धर्म की व्यापकता एव प्रभाव के सम्बन्ध मे यह अल्प विचार किया गया। अब चतुर्दश पूर्वधर श्री भद्रबाहु स्वामीकृत 'आवश्यक निर्युक्ति' एव श्री जिनभद्र क्षमाश्रमण द्वारा रचित 'विशेषावश्यक भाष्य' के आधार पर सामायिक क्या है ? उसके कितने प्रकार हैं ? सामायिक किसे कहते हैं ? यह किस प्रकार प्राप्त होती है ? कितने समय ठहरती है और उसका फल क्या है ? आदि अनेक बातो पर हम विशद चिन्तन करेंगे।

छ आवश्यको मे 'सामायिक' का प्रथम स्थान है। शेष पाँचो आवश्यक सामायिक के ही भेद हैं, अग है अर्थात् वे सामायिक को ही पुष्ट करने वाले हैं। सामायिक अर्थात् समता की साधना जितनी अधिक पुष्ट होगी उतने ही शेष पाँचों आवश्यक अधिकाधिक आत्मसात् होकर कर्म-निर्जरा मे अनन्य सहायक होते हैं। इस प्रकार सामायिक अर्थात् समता भाव युक्त अन्य पाँच आवश्यको की आराधना परमपद प्राप्त कराती है।

(१) आवश्यक के पर्यायवाची नाम—

पर्यायवाची शब्दो के ज्ञान से मूलभूत पदार्थ को समझने मे अत्यन्त सरलता होती है, अर्थ भी अधिक स्पष्ट होता है। सामायिक की सर्वगुण-सम्पन्नता एव विशिष्टता का बोध होने के लिए पर्यायवाची शब्दो का ज्ञान उपयोगी है।

आवश्यक, अवश्य-करणीय, ध्रुव, निग्रह, विशुद्ध, अध्ययन षट्क, वर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग—ये दसो शब्द सामान्यत एकार्थक है, फिर भी प्रत्येक शब्द किसी न किसी विशिष्ट गुणधर्म का वाचक है। अत उपर्युक्त पर्यायवाची शब्द अपना विशिष्ट अर्थ बताकर मूलभूत पदार्थ सामायिक की विशिष्टता को ही अधिक स्पष्ट करते हैं, जो इस प्रकार है·

(१) आवश्यक —चतुर्विध सघ के दिन एव रात्रि मे जो अवश्य करने योग्य हैं।

(२) अवश्यकरणीय—मुमुक्षु आत्मा के पाप से मुक्त होने के लिये जो नियमित आचरण योग्य है।

(३) ध्रुव —यह सामायिक शाश्वत है। अर्थ से यह अनादि, अनन्त है।

(४) निग्रह —जिससे इन्द्रियो एव कषाय आदि शत्रुओं का दमन (निग्रह) किया जाता है। सामायिक (समता भाव) द्वारा ही विषय-कषायो के आवेश पर नियन्त्रण किया जा सकता है।

(५) विशुद्ध —जो कर्म से मलिन बनी आत्मा को निर्मल (विशुद्ध) करता है।

(६) अध्ययन-षट्क—जो सामायिक आदि छ अध्ययनात्मक है।

(७) वर्ग —जिससे राग-द्वेष आदि दोषो के समूह का परिहार होता है अथवा जो छ अध्ययन का एक वर्ग है, समूह है।

(८) न्याय —जो इष्ट अर्थ को सिद्ध करता है, जो मोक्ष का अमोघ उपाय है, जिसके द्वारा कर्म-शत्रुओं द्वारा छीन ली गई अपनी गुण-सम्पत्ति आत्मा को पुन प्राप्त होती है।

(९) आराधना —आराध्य—मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से की जाती है वह, आराधना 'सामायिक' आदि मोक्ष के अनन्य साधन है, अत 'आराधना' है।

(१०) मार्ग —जो मोक्ष नगर मे पहुचा देता है, जिस प्रकार मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति इच्छित स्थान पर पहुँच सकता है, उसी प्रकार से मोक्षाभिलाषी आत्मा के लिये सामायिक आदि राज-मार्ग हैं।

इस प्रकार सामायिक प्रथम आवश्यक होने मे उपर्युक्त दसो नामो के विशेष अर्थ सामायिक में भी समाविष्ट है, अर्थात् उपर्युक्त समस्त गुणो की सिद्धि सामायिक के द्वारा होती है, अत इसके 'आवश्यक' आदि नाम भी यथार्थ है। कहा भी है कि—"समभाव स्वरूप सामायिक आकाश की तरह समस्त गुणो की आधार है।" सामायिक-विहीन व्यक्ति वास्तव मे किसी भी गुण का विकास नही कर सकता, आत्म-लक्ष्यी साधना की कोई

भी सिद्धि प्राप्त नही कर सकता। श्रुत, सम्यक्त्व एव विरति स्वरूप तीन प्रकार की सामायिक में समस्त गुणो का अन्तर्भाव हुआ है, क्योंकि ज्ञान, दर्शन और चारित्र से बढकर अन्य कोई सद्गुण इस विश्व में नही है, अर्थात् समस्त गुणो का रत्नत्रयी में समावेश हो जाता है। इस कारण ही तो रत्नत्रयी स्वरूप सामायिक में समस्त धर्मानुष्ठान, समस्त योग, एव समस्त गुण समाविष्ट ही हैं। इस रत्नत्रयी की उज्ज्वल आराधना ने अनन्त आत्माओ को शाश्वत सुख प्रदान किया है और करेगा।

(२) सामायिक क्या है ?

जिन-शासन स्याद्वादमय है, जहाँ प्रत्येक पदार्थ का निरूपण स्याद्वाद शैली से ही किया जाता है।

स्याद्वाद एक ही पदार्थ मे निहित विभिन्न धर्मों का गौण एव प्रमुख रूप से निरूपण करके पदार्थ के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान कराता है।

सामायिक धर्म विषयक प्रस्तुत चिन्तन भी अनेकान्तदृष्टि से ही प्रस्तुत किया जाता है। जिसका इतना अद्भुत माहात्म्य जिनागमो मे मुक्त कण्ठ से गाया गया है, वह सामायिक क्या है ? किसी भी जिज्ञासु के हृदय में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है।

सामायिक क्या जीव है, जड है, द्रव्य है अथवा गुण है ? इस प्रश्न के समाधान मे शास्त्रकार महर्षि का कथन है कि 'आत्मा ही सामायिक है।'[1] जड कदापि सामायिक नही हो सकता और द्रव्य दृष्टि से सोचने पर सामायिक द्रव्य है तथा पर्यायदृष्टि से सामायिक गुण है।

यहाँ 'द्रव्य' शब्द भी आत्मा का ही वाचक है। 'गुण' से आत्मा के ज्ञान आदि गुणो का ही ग्रहण होता है। इस प्रकार सामायिक 'जीव' है, परन्तु जड नही, यह सिद्ध होता है।

'आत्मा ही सामायिक है' यह बात आत्मा से साथ सामायिक का अभेद सम्बन्ध बताती है और इसके द्वारा सामायिक की भी आत्मा की तरह अनादि नित्यता–अनश्वरता सिद्ध होती है।

सामायिक आत्मा का ही गुण है। आत्मा मे निहित ज्ञान आदि गुणो का क्रमिक विकास ही सामायिक का प्रकटीकरण है।

---

१ आया खलु सामाइय। —विशेषा भाष्य

सामायिक गुण है। गुण कदापि गुणी से भिन्न नही रह सकता। अतः सामायिक आत्मा मे निहित गुण ही है।

उपर्युक्त दोनो दृष्टियो से सामायिक आत्म-स्वरूप एव गुण-स्वरूप अपेक्षा से भिन्न होते हुए भी वस्तुत तो एक ही है और वह आत्मा ही है। यदि आत्मा ही सामायिक हो तो क्या विश्व की प्रत्येक आत्मा सामायिक कही जायेगी ?

नही कही जायेगी, जो सावद्य पाप-क्रियाओ का त्याग करके और निरवद्य धम व्यापार मे सदा उपयोगी हो ऐसी आत्मा को ही सामायिक कहा जाता है। इनके अतिरिक्त अन्य आत्माओ को सामायिक नही कहा जा सकता।

ससारी अवस्था मे रहा हुआ व्यक्ति ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से आवृत होता है, तथा अज्ञान एव राग-द्वेष आदि की पराधीनता के कारण विभाव दशा मे मग्न रहता है। इस कारण इसे अज्ञानी, रागी अथवा द्वेषी कहते हैं, परन्तु जो व्यक्ति सावद्य योग के परिहार एव अहिंसा आदि धर्म के सेवन से विभावपूर्वक रमण करता है, तव उसमे क्रमश ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि गुण प्रकट होते हैं। अत ऐसे व्यक्ति को 'सामायिक' कहा जाता है।

(३) सामायिक के प्रकार

आत्मा ही सामायिक है, यह वात निश्चय नय की अपेक्षा से है, परन्तु व्यवहार नय की अपेक्षा से तो अवस्था भेद के अनुसार सामायिक के अनेक प्रकार हो सकते हैं। मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं—

(१) श्रुत सामायिक—गीतार्थ सद्गुरुओ से विनय एव सम्मानपूर्वक शास्त्रो का अध्ययन करना, शास्त्राध्ययन भी सूत्र से, अर्थ से और दोनो से—इस प्रकार तीन तरह से हो सकता है। सक्षेप मे ये तीन भेद और विस्तार से चौदह अथवा बीस भेद भी श्रुत सामायिक के होते हैं।

(२) सम्यक्त्व सामायिक—जिन-भाषित तत्त्वो के प्रति दृढ श्रद्धा अथवा सुदेव, सुगुरु और सुधर्म के प्रति अचल श्रद्धा ही सम्यक्त्व सामायिक है।

सम्यक्त्व का उद्भव दो प्रकार से—

(१) निसर्ग से—किसी व्यक्ति को गुरु आदि के उपदेश के बिना स्वाभाविक तौर से होता है।

(२) अधिगम से—अनेक व्यक्तियों को सद्गुरु-आदि से धर्म-श्रवण करने से होता है।

सम्यक्त्व के भेद

(१) औपशमिक, (२) क्षायोपशमिक, (३) क्षायिक, (४) सास्वादन और (५) वेदक—यह पाँचो प्रकार का सम्यक्त्व निसर्ग और अधिगम दोनो प्रकार से होता है। अत सम्यक्त्व सामायिक के दस भेद किये जा सकते हैं, तथा कारक, रोचक एव दीपक इन तीन प्रकार के सम्यक्त्व का भी शास्त्रो मे निरूपण हो चुका है। सम्यक्त्व की पहचान शम, सवेग निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिकता इन पाँच लक्षणों से होती है।

(३) चारित्र सामायिक—विरतिस्वरूप सामायिक के मुख्य दो भेद होते हैं—

(१) देशविरति चारित्र—सावद्य-पाप व्यापारो का अंशत त्याग। यह चारित्र अणुव्रत, गुणव्रत एव शिक्षाव्रत (बारह व्रत) आदि की अपेक्षा से अनेक प्रकार का है।

(२) सर्वविरति चारित्र—समस्त सावद्य (पाप) व्यापारो का सर्वथा त्याग, इसके निम्नलिखित तीन एव पाँच भेद होते हैं—

तीन भेद—(१) क्षायिक चारित्र, (२) क्षायोपशमिक चारित्र (३) औपशमिक चारित्र।

पाँच भेद—(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापनीय, (३) परिहार-विशुद्धि, (४) सूक्ष्म सपराय, (५) यथाख्यात।

इन भेद-उपभेदो का विचार स्थूल दृष्टि से किया गया है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर चारित्र के असख्य भेद हो सकते है, क्योकि सयम-श्रेणी मे अध्यवसाय-स्थान असख्य लोकाकाश जितने होते हैं।

चारित्र आत्मा का विशुद्ध परिणाम स्वरूप है। अत अध्यवसायो में होने वाली विशुद्धि के भी तारतम्यता के अनुसार चारित्र में भी इतने ही प्रकार हो सकते है।

(४) सामायिक के अधिकारी कौन ?

सामायिक के समान महान् मोक्ष-साधना उसके योग्य अधिकारी के बिना सफल कैसे हो सकती है ? सामायिक के वास्तविक अधिकारी कैसे होने चाहिये—यह यहाँ बताया जायेगा।

जिस व्यक्ति की आत्मा सयम, नियम और तप की आराधना मे ही सदा सलग्न हो, चलते-फिरते अथवा स्थिर (त्रस अथवा स्थावर) समस्त प्राणियो के प्रति सद्भाव वाली अर्थात् समस्त जीवो को आत्मवत् समान दृष्टि से देखने वाली हो, वही व्यक्ति इस 'जिन प्रणीत' सामायिक धम का सच्चा अधिकारी है ।[1]

सावद्य—दुष्ट मन, वचन, काया रूपी योग की रक्षा के लिये सामायिक अभेद्य कवच है । इसके द्वारा राग-द्वेष की दुष्ट वृत्तियो पर नियन्त्रण रहता है और चित्त की स्थिरता एव समता मे वृद्धि होती जाती है ।

सर्वज्ञ-उपदिष्ट यह परम पवित्र एव परिपूर्ण सामायिक-धर्म गृहस्थ-धर्म की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ एव महान् फलदायी है ।

आत्म-कल्याण-कामी बुद्धिमान व्यक्तियो को इस लोक और परलोक में आत्मा के परमोच्च विकास-साधक इस सामायिक धर्म को अवश्य स्वीकार करना चाहिये ।

मन, वचन और काया की स्थिरता अथवा शुद्धता पूर्वक होती तप, नियम और सयम की आराधना से आत्मा मे आता कर्म बन्ध का प्रवाह रुक जाता है, तथा पूर्व-कृत दुष्ट कर्मों का क्षय होता है और क्रमश परम पद प्राप्त होता है ।

सम्पूर्ण सामायिक स्वीकार करने मे असमर्थ श्रावक भी दो घडी की सामायिक के द्वारा अशुभ योगो से निवृत्त होकर अपूर्व कर्म-क्षय कर सकते हैं । सामायिक मे स्थिर श्रावक भी उतने समय के लिये साधु-तुल्य माना जाता है ।

सामायिक करना अर्थात् मध्यस्थ भाव मे रहना, राग द्वेप के मध्य रहना—अर्थात् दोनो मे से किसी का भी आत्मा के साथ स्पर्श नही होने देना, परभाव से हट कर स्वभाव में स्थिर होना । सामायिक आत्म-स्वभाव मे तन्मयता लाने की एक अद्भुत, दिव्य कला है । सयम, नियम एव तप के सतत अभ्यास से सामायिक को आत्मसात् किया जा सकता है ।

---

१ जस्स सामाणिओ अप्पा मजमे नियमे तवे ।
तस्स सामाइय होइ इइ केवलिभासिय ।।
जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य ।
तस्स सामाइय होइ इई केवलिभासिय ।।

३. सामायिक प्राप्ति का पूर्वाभ्यास

सामायिक धर्म की प्राप्ति के लिये उत्सुक व्यक्ति को सर्वप्रथम अपनी आत्मा को संयम मे, अहिंसा आदि पाँच महाव्रतो मे अथवा सत्रह प्रकार के (इन्द्रिय-कषाय आदि-जय रूप) सयम में स्थिर करनी चाहिये।

नियम स्वरूप अष्ट प्रवचन माता की गोद मे जीवन समर्पित कर के क्षमा, नम्रता, सरलता आदि गुणो का विकास करना चाहिये।

अनशन आदि बाह्य तप से काया को अच्छी तरह कस लेना चाहिये ताकि चाहे जैसे उपसर्ग आयें तो भी हमारी देह तनिक भी पीछे नही हटे और हर्षपूर्वक उन उपसर्गों को सहन कर सके। हमे आभ्यन्तर तप—प्रायश्चित्त, गुरु-भक्ति और स्वाध्याय के द्वारा अपने चित्त की वृत्तियो को निर्मल करना चाहिये। निर्मल चित्त के द्वारा परमात्मा के साथ एकात्मता में (आत्मा) और परमात्मा एक हैं ऐसी तादात्म्यता करने के लिये उनके ध्यान में तन्मय होकर कायोत्सर्ग करके कायिक चचलता पर भी नियन्त्रण रखना चाहिये।

विश्व के समस्त जीवो के प्रति समभाव रखकर उन्हे आत्मवत् मानना चाहिये। क्षुद्रतम जन्तु भी सुख प्राप्त करना और दु ख से मुक्त होना चाहता है और उसके लिये यथाशक्ति सतत पुरुषार्थ भी करता रहता है। ऐसे प्राणियो को हमारे द्वारा होने वाली वेदना कितनी दुःखदायी होती होगी, उसका अनुमान हम अपने उपर आने वाली भाँति-भाँति को विपत्तियो से सरलता पूर्वक लगा सकते है।

अतः अपने मन, वचन और काया से किसी भी जीव को किसी भी प्रकार की पीड़ा न हो उसका हमे अत्यन्त ध्यान रखना चाहिये।

मन से भी किसी व्यक्ति का हम अहित न सोचले इसकी भी हमें पूर्ण सावधानी रखना आवश्यक है। जब तक अपनी ओर से दूसरो को पीडित करने की प्रवृत्ति चलती रहेगी, तब तक अपनी पीडा कदापि नही मिटेगी।

दूसरो को अभय किये बिना हम स्वय निर्भय नही हो सकते।

समप्त जीवो को आत्म-तुल्य दृष्टि से देखे बिना आत्म-दर्शन अथवा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही हो सकती ।

हमें राग-द्वेप की दुष्ट-वृत्तियो को वश मे करके माध्यस्थ भाव रखना चाहिये । कोई हम पर शीतल चन्दन का विलेपन करे अथवा कोई कुल्हाडी से हमारी देह के टुकडे कर दे, कोई हमारी प्रशसा (स्तुति) करे अथवा कोई हमारी निन्दा करे—हमें गालियां दे फिर भी हमारी दृष्टि दोनो के प्रति समान रहे । राग-द्वेप की भावना उत्पन्न न होने देना माध्यस्थ भाव है ।

हमे समस्त जड (पौद्गलिक) पदार्थों से वैराग्य धारण करना चाहिये । इन्द्रियो के समक्ष जड पदार्थो का आगमन होते ही मन उसमे इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करने लग जाता है और तदनुरूप राग द्वेप की वृत्तियो की हमारे मन मे खलबली शुरु हो जाती है । इष्टसयोग से हर्ष और अनिष्टसयोग से शोक का हमें अनुभव होने लगता है ।

परन्तु यदि हम वैराग्य-सिक्त हो तो बाह्य सुख-दु ख के मधुर-कटु किसी भी प्रकार के प्रसगो मे माध्यस्थ भाव स्थायी रखा जा सकता है, राग-द्वेप की वृत्तियो पर विजय प्राप्त की जा सकती है ।

ज्ञानी एवं विरक्त व्यक्ति को बाह्य सुख-दु ख, शान्ति-अशान्ति कर्म का विकार मात्र प्रतीत होती है ।

उपर्युक्त उपायो के द्वारा सामायिक (समता भाव) का सतत अभ्यास जब पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, तब उस प्रकार का विशिष्ट व्यक्ति मोक्षाभिलाषा से भी निवृत्त हो जाता है ।

सच्चिदानन्द की मस्ती में मस्त बने मुनि को मोक्ष सुख के पकवान के रूप मे समता-सुख का यही रसास्वादन करने को मिल जाता है, जिससे उसमें मोक्ष-सुख की तमन्ना भी नही रहती और यह समतारूपी रमणी इतनी स्वामि-भक्त एव शक्तिशाली है कि यह अपने प्रियतम को मुक्तिपुरी के द्वार पर पहुँचा कर ही दम लेती है ।

सामायिक शब्द का जो नैश्चयिक अर्थ 'शुद्ध आत्मा' और 'शुद्ध आत्म-स्वभाव में होने वाली रमणता' है, वह इस प्रकार की विशिष्ट भूमिका वाले मुनि भगवानो को ध्यान में रखकर ही बताया गया है ।

सामायिक अर्थात आत्म-स्वभाव मे रमणता करने वाला निश्चय (भाव) चारित्र, जिस चारित्र को स्वय तीर्थंकर भगवान भी अपने जीवन में ज्वलन्त रखते हैं और मुख्यत सर्वप्रथम इसका ही उपदेश देते हैं ।

इस सामायिक धर्म की ससम्मान आराधना तीर्थंकर भगवान की आज्ञा की ही आराधना है, उनकी आज्ञा का ही बहुमान है और तत्त्वत तीर्थंकर भगवान का ही सम्मान है। इस सम्मान भावना से पर्याप्त कर्म-क्षय करने वाला व्यक्ति क्रमश गुणश्रेणी पर आरोहण करके सामायिक की शुद्धता को ज्वलन्त करता जाता है। दसवे गुणस्थानक पर पहुँचकर यह सामायिक 'सूक्ष्म-सपराय के रूप में' परिवर्तित हो जाती है और ११, १२, १३, १४ वे गुणस्थानक पर यही सामायिक 'यथाख्यातपन' के परिणाम प्राप्त कर लेती है।

इस प्रकार सामायिक की शुद्धता में वृद्धि होने पर शुक्लध्यान प्रकट होता है, शुक्लध्यान से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है और अन्त में आत्म-स्वभाव की पूर्णता के रूप में मोक्ष प्राप्त होता है।

परम पुरुषो ने इस कारण ही चन्दन के समान सर्व मध्यस्थ भाव रूपी चित्त को अर्थात् सामायिक को मोक्ष का प्रधान अग माना है।

सर्व विरति सामायिक मोक्ष का प्रधान साधन होते हुए भी उसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। कोई विरला पुण्यशाली व्यक्ति ही सावद्य योग की सगति का सर्वथा परित्याग करके उज्ज्वल हो सकता है, परन्तु उक्त पुण्य-सामर्थ्य के अभाव में भी सम्यक्त्व सामायिक एव देश-विरति सामायिक की विधिपूर्वक सादर आराधना की जाये तो क्रमश प्रबल चारित्र-मोहनीय कर्म क्षय होने पर इस जीवन मे अथवा आगामी जन्म में सम्पूर्ण सामायिक प्राप्त करने का प्रचण्ड बल प्रकट हो सकता है।

किसी भी इष्ट वस्तु की प्राप्ति तदनुरूप प्रवृत्ति करने से होती है। सर्व-विरति आदि चारो सामायिक की प्राप्ति भी उनके अनुकूल प्रवृत्ति करने से अवश्य हो सकती है।

अब यहा क्रमश चारो सामायिक की प्राप्ति के सरल उपाय बताये जाते हैं। यदि उन्हे जीवन में आजमाया जाये, उनको आचरण मे लाया जाये तो उत्तरोत्तर आत्मिक विकास होने पर क्रमश सम्पूर्ण सामायिक-भाव प्राप्त किया जा सकता है।

सर्व-विरति सामायिक प्राप्त करने के उपाय—

सर्व-विरति सामायिक के अभिलाषी व्यक्ति को अपने जीवन की समस्त प्रवृत्तियों को मोक्ष-मार्ग के अनुकूल बनानी चाहिये, अर्थात् मार्गानु-सारिता तथा सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि गुणो का विकास होता रहे ऐसी प्रवृत्ति करनी चाहिये। मोक्ष-साधना मे विघ्न-भूत कोई भी प्रवृत्ति नही करनी चाहिये।

जिनेश्वर भगवान द्वारा प्ररूपित तत्वो के प्रति अखण्ड श्रद्धा प्रकट करना।

सद्गुरु की धर्म-देशना को श्रवण करके तदनुसार जीवन यापन करना।

गुणवान मनुष्यो के प्रति हृदय मे सद्भाव एव सम्मान रखना।

अपनी शक्ति के अनुसार धर्म कार्यों मे सदा प्रयत्नशील रहना।

देह आदि जड पदार्थों की आसक्ति का परित्याग करके आत्मोत्थान की प्रतिक्षण चिन्ता रखना।

देश-विरति सामायिक प्राप्त करने के उपाय –

स्वभूमिका के अनुरूप शास्त्रोक्त अनुष्ठानो का विधि पूर्वक पालन करना।

सदा नमस्कार महामन्त्र का स्मरण, मनन एव चिन्तन करना।

तीनो समय जिनेश्वर भगवान की स्व द्रव्यो से विधिपूर्वक पूजा करना।

गुरु-वन्दन, सेवा, भक्ति और सद्गुरु से धर्म का श्रवण करना।

शुद्ध आशय से यथाशक्ति दान देना।

श्रावक-धर्म मे कोई रुकावट आये, उस प्रकार से महा आरम्भ-समारम्भ युक्त कर्मादान आदि का त्याग करके न्याय-नीतिपूर्वक जीवन निर्वाह करना।

दोनो समय प्रतिक्रमण करना।

जीव आदि तत्त्वो का अध्ययन एव मनन करना।

अनित्य आदि बारह भावनाओ को नित्य हृदय मे रखना।

'श्राद्ध-विधि' आदि ग्रन्थो मे निर्दिष्ट श्रावको के योग्य आचारो का पालन करने से देश-विरति सामायिक की शुद्धता में वृद्धि होती जाती है और उसके प्रभाव से चारित्र-मोहनीय-कर्म का क्षयोपशम होने पर सर्व--विरति सामायिक की प्राप्ति होती है।

श्रुत एव सम्यक्त्व सामायिक प्राप्ति के उपाय—

तत्त्व श्रवण करने की उत्कंठा जागृत करना।

धर्म के प्रति प्रेम उत्पन्न करना।

देवाधिदेव अरिहन्त परमात्मा तथा निर्ग्रन्थ गुरु भगवानो की सेवा-भक्ति करना।

अपराधी को भी क्षमा करना, उसका भी अहित नही सोचना।

विषय-वासना के प्रति उदासीनता रखना, वैराग्य जगाना।

आत्मा के पूर्णानन्दमय स्वरूप का अनुभव करने के लिये अत्यन्त उत्कण्ठा रखना।

दुःखी जीवो के कष्ट निवारण करने के प्रयास करना।

जिन-वचनो के प्रति दृढ श्रद्धा रखना।

ये समस्त गुण आने पर साधक मे सम्यक्त्व सामायिक प्रकट होती है और यदि ये पूर्व से ही प्राप्त हो तो वह अधिक निर्मल बनती है।

श्रुत सामायिक सम्यक्त्व सामायिक की सहचारिणी है। सम्यक्त्व सामायिक की प्राप्ति होने पर श्रुत सामायिक स्वयमेव प्राप्त हो जाती है। ये दोनो सामायिक परस्पर सहचारिणी हैं, सहायक हैं।

सम्यक्त्व सामायिक की प्राप्ति कोई सरल बात नही है। 'मैं देह नही, आत्मा हूँ'' इस भेदज्ञान के समक्ष दीवार की तरह अडिग खडा तीव्र दर्शन-मोहनीय कर्म दूर न हो, तब तक जीव सम्यक्त्व की पूर्व भूमिका का स्पर्श तक नही कर सकता।

सम्यक्त्व की पूर्व भूमिका है—अपुनर्बन्धक अवस्था। जीव इस अवस्था तक तब ही पहुच सकता है, जब वह पुन कदापि मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध नही करने की स्थिति तक पहुँच गया होता है।

अपुनर्बन्धक अवस्था को पहुचे हुए जीवो की परिणति-प्रवृत्ति कैसी होती है वह निम्नलिखित लक्षणो से पहचानी जा सकती है—

तीव्र क्रूरता से हिंसा आदि पाप कार्य न करे।

तथाकथित सासारिक सुखो के प्रति प्रगाढ़ आसक्ति न करे।

धर्म आदि समस्त कार्यो मे उचित मर्यादा का उल्लंघन न करे।

'योगबिन्दु' ग्रन्थ मे अपुनर्बन्धक के अन्य लक्षण भी बताये गये हैं जैसे—

तुच्छ, सकुचित वृत्ति नही रखता हो।

भिक्षा माँगने वाला (याञ्चाशील) न हो।

दीनता नही रखता हो।

धूर्तता नही करता हो।

निरर्थक प्रवृत्तियाँ न करता हो।

कालज्ञ हो, समय पहचान कर व्यवहार करने वाला हो, आदि। ꕥ

४. सामायिक की विशालता

इस विराट विश्व मे सामायिक कितनी व्यापक है, जिसका पूर्ण ज्ञान इन क्षेत्र, दिशा, काल आदि ३६ द्वारो से की जाने वाली सामायिक के चिन्तन से हो सकता है।

(१) क्षेत्र द्वार—क्षेत्र=लोक, सामान्यतया सामायिक तीनो लोको (ऊर्ध्व, अध और मध्य) मे होती है।[1] 'प्रतिपद्यमान' एव 'पूर्वप्रतिपन्न' की अपेक्षा से इसमे विशेषता होती है, जो इस प्रकार है —

(१) प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से सम्यक्त्व एव श्रुत सामायिक की प्राप्ति तीनो लोको मे हो सकती है, देशविरति सामायिक की प्राप्ति तिर्छा लोक मे हो सकती है और सर्वविरति सामायिक की प्राप्ति मनुष्य लोक मे हो सकती है।

(२) पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से प्रथम तीन सामायिक (सम्यक्त्व, श्रुत और देशविरति) प्राप्त किये हुए जीव तीनो लोको मे होते हैं और सर्वविरति सामायिक प्राप्त जीव[2] अधो एव तिर्छा लोक मे नियमा होते तथा ऊर्ध्व लोक मे क्वचित् (लब्धि-धारी मुनिगण मेरू पर्वत पर जा रहे हो उस अपेक्षा से) होते हैं।

(२) दिशा द्वार—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण—इन चारो दिशाओं मे विवक्षित समय के आश्रित चारो सामायिकों को स्वीकार करने वाले जीव होते हैं। पूर्वप्रतिपन्न तो प्रत्येक दिशा मे अवश्य होते ही हैं।

(३) काल द्वार—सम्यक्त्व एव श्रुत सामायिक दोनो तरह से भरत ऐरवत क्षेत्र के आश्रित होकर छ:ओ आरो में होती हैं। देशविरति तथा

---

१ प्रतिपद्यमान—सामायिक की प्राप्ति के समय जीव "प्रतिपद्यमान" कहलाते हैं।
पूर्वप्रतिपन्न—सामायिक की प्राप्ति हो जाने पर वे ही जीव "पूर्वप्रतिपन्न" कहलाते है।

२ महाविदेह मे आई हुई "कुबडीविजय" जो अधोलोक मानी जाती है।

सर्वविरति सामायिक तीसरे, चौथे और पाँचवे आरे मे ही हो सकती है। महाविदेह क्षेत्र मे तो चारों सामायिक सदा होती हैं। देवताओ आदि के संहरण की अपेक्षा से चारों सामायिक समस्त कालो मे हो सकती हैं, तथा 'पूर्वप्रतिपन्न' भी महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से सर्वदा होती हैं।

जहाँ काल आदि की व्यवस्था नही है ऐसे ढाई द्वीपों के अतिरिक्त द्वीप समुद्रों में भी आद्य तीन सामायिक मछलियाँ आदि जीव प्राप्त कर सकते हैं।

(४) गतिद्वार –चारो गतियाँ (देव, मनुष्य, तिर्यंच एव नरक) में सम्यक्त्व एवं श्रुत इन दो सामायिकों की प्राप्ति हो सकती है और 'पूर्व प्रतिपन्न' तो अवश्य होती है। देशविरति सामायिक मनुष्य तथा तिर्यंच गति मे ही प्राप्त होती हैं, 'पूर्वप्रतिपन्न' सदा होती ही है। सर्वविरति सामायिक केवल मनुष्य गति मे प्राप्त होती है, 'पूर्वप्रतिपन्न' तो सदा होती ही है।

उपर्युक्त चारो द्वारों मे किये गये विचार से समझा जा सकता है कि समस्त क्षेत्रों तथा समस्त कालो में सामायिक अवश्य विद्यमान होती है, अर्थात् तीनो लोको और तीनो कालो मे सामायिक वाले जीव होते हैं, तथा चारो गतियो के जीव 'सामायिक' प्राप्त कर सकते हैं और अपने जीवन मे उसका अभ्यास करते-करते अनेक जीव सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक को जन्मान्तर मे साथ ले जाते हैं। मनुष्य-भव-प्राप्त वे जीव, गुरु के उपदेश आदि के द्वारा पूर्वाभ्यस्त सस्कार जागृत होने पर देशविरति एव सर्व-विरति चारित्र प्राप्त करते हैं और उसके सुविशुद्ध परिपालन से पूर्ण सामायिक को प्राप्त करके वे सिद्धि गति को प्राप्त करते है, सदा के लिये सामायिक भाव मे स्थिर रहते हैं अर्थात् वे स्वय सामायिक स्वरूप हो जाते हैं।

(५-६) भव्यद्वार एवं सज्ञीद्वार

(१) प्रतिपद्यमान भव्य आत्मा चार मे से कोई भी सामायिक प्राप्त कर सकते हैं। वे कभी सम्यक्त्व सामायिक, कभी श्रुत सामायिक, कभी देश-विरति सामायिक तो कभी सर्वविरति सामायिक भी प्राप्त कर सकते हैं, संज्ञी जीव भी इसी प्रकार से चारो सामायिक प्राप्त कर सकते हैं।

(२) पूर्वप्रतिपन्न—अनेक भव्य जीव तथा सज्ञी जीव चारो सामायिक प्राप्त किये हुए होते ही हैं। अभव्य, असज्ञी और सिद्ध जीव किसी भी सामायिक के प्रतिपद्यमान अथवा पूर्वप्रतिपन्न नही होते। सास्वादन के

आश्रित होकर असज्ञो जीव सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक के पूर्वप्रतिपन्न हो सकते हैं तथा भवस्थ केवली (नोसज्ञी नो असंज्ञी) सम्यक्त्व और चारित्र के पूर्वप्रतिपन्न हो सकते हैं। सिद्धो मे सम्यक्त्व सामायिक पूर्वप्रतिपन्न हो सकती है, परन्तु उसकी विवक्षा यहां अपेक्षित नही है। सामायिक की प्राप्ति भव्य आत्मा को ही हो सकती है, वह भी सज्ञी पचेन्द्रिय अवस्था मे ही हो सकती है। अभव्य जीव तो सामायिक भाव का कदापि स्पर्श भी नही कर सकते।

यद्यपि द्रव्य से श्रुत सामायिक उन्हे भी प्राप्त हो सकती है, परन्तु सम्यक्त्व का सहचारी भाव-श्रुत तो उनके लिये सम्भव ही नही है।

इससे ज्ञात होता है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति से पूर्व नौ पूर्व के अभ्यासी भव्य जीव का श्रुत भी द्रव्य श्रुत ही है।

(७) उश्वास-निश्वास द्वार—श्वासोश्वास पर्याप्ति से पूर्ण बना जीव चारो सामायिक प्राप्त कर सकता है तथा चारो सामायिको के पूर्व प्रतिपन्न भी होते हैं, परन्तु आनपान पर्याप्ति-अपर्याप्ति जीव चार मे से एक भी सामायिक नही प्राप्त कर सकते, देव आदि जन्म के समय सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक के पूर्वप्रतिपन्न हो सकते हैं। सिद्धो मे पूर्ववत् चारों सामायिक दोनो प्रकार से नही होती, अथवा अयोगी केवली सम्यक्त्व एव चारित्र के पूर्वप्रतिपन्न होते हैं।

'प्राणायाम' श्वासोश्वास निरोध की एक प्रक्रिया है। योग के आठ अगो मे उसका चौथा स्थान है। प्रस्तुत सामायिक मे भाव प्राणायाम (वहिरात्म दशा का त्याग आदि) की प्रधानता है। इस कारण ही बाह्य प्राण के निरोध के विना भी चारो सामायिको की प्राप्ति का विधान किया गया है। बाह्य श्वासोश्वास-निरोध के बिना भी सम्यक्त्व एव चारित्र की उपस्थिति हो सकतो है, क्योकि वे दोनो जीव के 'भाव प्राण' है। चारो सामायिक 'भाव-प्राणायाम' स्वरूप हैं।

(८) दृष्टि द्वार—दृष्टि के दो प्रकार हैं—(१) निश्चय दृष्टि और (२) व्यवहार दृष्टि।

(१) निश्चय दृष्टि क्रिया-काल एव निष्ठा-काल को एक मानती है। इसके मत से सामायिक वाला जीव सामायिक प्राप्त करता है।

(२) व्यवहार दृष्टि की मान्यता है कि क्रिया के प्रारम्भ के पश्चात कार्य की समाप्ति दीर्घ काल मे होतो है। अतः जो जीव पहले सामायिक-

रहित होते हैं, वे जीव सामायिक प्राप्त करते हैं, जिस प्रकार अज्ञानी लोग ज्ञान प्राप्त करते हैं।

जैन दर्शन स्याद्वादमय है, जिसमे समस्त नयो का सापेक्षता से विचार किया जाता है। यहां सातो नयो का दो नयो मे समावेश करके उनके अभिप्राय के अनुसार सामायिक को घटित किया गया है। विशेष चर्चा 'विशेषावश्यक' से ज्ञात कर ले।

(९-१०) आहारक द्वार और पर्याप्तक द्वार—आहारक अर्थात् ओज, लोम और कवल आहार करने वाले। पर्याप्तक अर्थात् आहार आदि छओं स्व-योग्य पर्याप्ति पूर्ण करने वाले। ये दोनो प्रकार के जीव चार मे से कोई भी सामायिक प्राप्त कर सकते हैं तथा 'पूर्वप्रतिपन्न' नियमा होती है। अनाहारक एवं अपर्याप्त जीव अपान्तराल गति मे सम्यक्त्व एवं श्रुत के पूर्व प्रतिपन्न हो सकते है, परन्तु नवीन सामायिक नही प्राप्त कर सकते।

अणाहारी शैलेशी अवस्था मे और केवली समुद्घात के समय सम्यक्त्व और चारित्र के पूर्व प्रतिपन्न हो सकते हैं।

(११) सुप्त-जागृत द्वार—दोनो के दो-दो भेद किये जा सकते हैं—द्रव्य एवं भाव।

(१) द्रव्य सुप्त—नीद लेता हो वह और (२) भाव सुप्त मिथ्या-दृष्टि, ये दोनो एक भी नवीन सामायिक प्राप्त नही कर सकते क्योकि इस अवस्था मे उसके समान विशुद्धि नही होती।

(१) द्रव्य जागृत—निद्रा रहित और (२) भाव जागृत—सम्यग्दृष्टि; ये दोनो नवीन सामायिक प्राप्त कर सकते हैं तथा चारो सामायिको के वे पूर्वप्रतिपन्न तो होते हैं।

'निन्दरड़ी वैरण हुई रही'—यह उक्ति अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। निद्रा-वस्था मे भी वास्तविक गुण की प्राप्ति नही हो सकती। प्राप्त ज्ञान आदि गुण भी उस समय के लिये तो विसरा जाते हैं। नीद 'घाती' प्रकृति है। यह आत्मा के मूल गुणों का घात करती है। यह तो हुई द्रव्य निद्रा की वात। भाव निद्रा तो इससे वहुत अधिक भयंकर है, मिथ्यात्व अवस्था मे जीव असार को सार, असत्य को सत्य और अनात्मा को आत्मा मानने के भयंकर भ्रम का शिकार होता है, जिसके कारण आत्मा दुर्गति की गहरी खाई मे जा गिरती है, असह्य यातनाओ एव वेदनाओ से पीड़ित होती है और अपना भव-प्रवास अत्यन्त ही दीर्घ बना देती है।

(१२) जन्मद्वार[1]—जीवो का जन्म चार प्रकार से होता है—(१) जरायुज, (२) अण्डज, (३) पोतज एव (४) उपपात।

(१) जरायुज—मनुष्य को चारो सामायिक दोनो प्रकार से होती है, नवीन सामायिक प्राप्त कर सकते हैं और पूर्वप्रतिपन्न होते हैं।

(२-३) अण्डज एव पोतज—आद्य दो सामायिक अथवा देशविरति सामायिक प्राप्त कर सकते हैं और पूर्वप्रतिपन्न भी होते है।

(४) उपपात-देव-नारक—आद्य दो सामायिक के प्रतिपत्ता और पूर्वप्रतिपन्न होते है। यहाँ सम्मूर्च्छिम जीवो की विवक्षा नही की, क्योकि वे एक भी सामायिक प्राप्त नही कर सकते।

(१३) स्थिति-द्वार[2]—आयुष्य के अतिरिक्त सातो कर्म की उत्कृष्ट

---

१ (१) जरायुज—जो जरायु (मास, रक्त से पूर्ण एक प्रकार का जाल सा आवरण होता है) से उत्पन्न होता है जैसे—मनुष्य, गाय आदि।
(२) अडज—जो अण्डे से उत्पन्न हो वह अडज जैसे—कबूतर, चिड़िया, साप आदि।
(३) पोतज—जो किसी भी आवरण मे लिप्त हुए विना उत्पन्न होता है जैसे—हाथी, खरगोश, चूहा आदि।
(४) औपपातिक—देवो और नारको का उपपात जन्म होता है। उनके जन्म के लिये जो विशेष स्थान नियत होता है वह उपपात कहलाता है।

२ आठ कर्मों की उत्कृष्ट एव जघन्य स्थिति—

कर्म	१ ज्ञानावरणीय	२ दर्शनावरणीय	३ वेदनीय	४ मोहनीय
उत्कृष्ट स्थिति	३० कोटाकोटि सागरोपम	३० कोटाकोटि सागरोपम	३० कोटाकोटि सागरोपम	७० कोटाकोटि सागरोपम,
जघन्य स्थिति	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	१२ मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त

कर्म—	आयुष्य	नाम	गोत्र	अतराय
उत्कृष्ट स्थिति	३३ साग-रोपम	२० कोटाकोटि सागरोपम	२० कोटाकोटि सागरोपम	३० कोटाकोटि सागरोपम
जघन्य स्थिति	अन्तर्मुहूर्त	८ मुहूर्त	८ मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त

स्थिति में व्यवहार करते हुए जीवो में चारो सामायिक दो मे से एक प्रकार से न हो, अर्थात् नवीन प्राप्त नही कर सके और पूर्व प्राप्त स्थायी न हो, क्योकि उस स्थिति मे जीव के भाव अत्यन्त संकुचित होते हैं, अत. समता भाव की प्राप्ति नही हो सकती।

आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति मे वर्तमान अनुत्तरवासी देव सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक के पूर्वप्रतिपन्न अवश्य होते हैं और सातवीं नरक के जीव छ माह की आयु शेष रहती है तब उस प्रकार की विशुद्धि के योग से सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक प्राप्त कर सकते हैं और पूर्वप्रतिपन्न होते हैं। जघन्य आयुष्य-क्षुल्लक भव वाले निगोद के जीवों को चारो मामायिक दोनो प्रकार से नही होती। आयुष्य के अतिरिक्त सातों कर्म की जघन्य स्थिति बाँधने वाला क्षपक श्रेणी स्थित जीव देशविरति के अतिरिक्त तीनो सामायिक का 'पूर्वप्रतिपन्न' होता है और समस्त कर्मो की मध्यम स्थिति मे रहे जीव चारो सामायिक को प्राप्त कर सकते हैं और पूर्वप्रतिपन्न भी होते हैं।

(१४) वेद द्वार—वेद तीन हैं—पुरुष वेद, स्त्री वेद और नपुसक वेद। इन तीनो वेदो मे चारो सामायिक नवीन प्राप्त हो सकती हैं और पूर्व प्राप्त की हुई नियमा होती हैं। अवेदी (तीनो वेदो के उदय एव अनुभव से रहित) आत्मा श्रुत, सम्यक्त्व एवं सर्वविरति की पूर्वप्रतिपन्न होती है।

(१५) संज्ञा द्वार—आहार, भय, मैथुन एव परिग्रह इन चारो संज्ञा वाले जीवो को दोनो प्रकार से चारो सामायिक प्राप्त हो सकती हैं।

(१६) कषाय द्वार—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारो कषायों वाले जीव चारों सामायिक के प्रतिपत्ता और पूर्वप्रतिपन्न होते हैं। यद्यपि अनन्तानुबन्धी कषाय आदि के क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम से सम्यक्त्व आदि सामायिक प्राप्त होती है, फिर भी जीव जहाँ तक सम्पूर्ण कषाय रहित स्थिति को प्राप्त नही हुआ हो तब तक वह 'सकषायी' कहलाता है।

अकषायी 'छद्मस्थ वीतराग' कहलाते हैं; वे सम्यक्त्व, श्रुत और सर्वविरति के पूर्वप्रतिपन्न होते हैं, प्रतिपद्यमान नही होते।

कर्म की स्थिति का सूक्ष्म ज्ञान विशिष्ट ज्ञानी को ही हो सकता है, फिर भी यहाँ स्थूल दृष्टि से वेद, सज्ञा और कषाय (जो सबको अनुभवगम्य हैं) की मन्दता का आश्रय लेकर सामायिक प्राप्ति की बात कही गई है। अन्यथा इन तीनो की उत्कृष्ट अवस्था में तो कदापि समता भाव प्रकट नही

होता, यदि प्रकट हो गया हो तो स्थायी नही रह सकता। शास्त्रो मे कहा गया है कि अनन्तानुवन्धी कषाय सम्यक्त्व का, अप्रत्याख्यानीय कषाय देश-विरति का, प्रत्याख्यानीय कषाय सर्वविरति का और सञ्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र का घातक है। समता सामायिक के अभिलाषी व्यक्तियो को पाँचो इन्द्रियो के विषयो पर, रसना लोलुपता पर और क्रोध आदि कषायो पर विजय प्राप्त करने के लिये निरन्तर प्रयास करने चाहिये।

(१७) आयुष्य द्वार—सख्याता वर्षों के आयु वाले जीव चारो सामायिक प्राप्त कर सकते हैं और पूर्वप्रतिपन्न भी होते हैं। असंख्याता वर्षों के आयु वाले जीव सम्यक्त्व एव श्रुत सामायिक को प्राप्त कर सकते है तथा पूर्वप्रतिपन्न भी अवश्य होते हैं।

सामायिक आत्मा के विशुद्ध समता परिणाम स्वरूप है। उसकी प्राप्ति अथवा प्राप्त की हुई की रक्षार्थ कर्म की स्थिति अपेक्षित है, अर्थात् कर्म-प्रकृति का वल क्षीण होने पर, मन्द होने पर ही 'सामायिक' प्राप्त होती है। कर्म की प्रवलता मे वृद्धि होने पर तो प्राप्त सामायिक-समता-भावना भी नष्ट हो जाती है।

कर्मसत्ता को निर्बल करने के लिये मुमुक्षु आत्माओ को चतु शरण-गमन आदि धार्मिक अनुष्ठानो मे तत्पर रहना चाहिये।

(१८) योग-द्वार—सामान्यत मन, वचन और काया रूपी तीनो योगो मे विवक्षित काल मे चारो सामायिक प्राप्त हो सकती है और पूर्व-प्रतिपन्न भी होती हैं। विशेषता निम्नलिखित है—

औदारिक देह वालो को तीनो योगो मे चारो सामायिक प्राप्त हो सकती हैं और पूर्वप्रतिपन्न भी होती है। वैक्रिय देह युक्त तीनो योगो मे सम्यक्त्व एव श्रुत सामायिक दोनो प्रकार से हो सकती है और देशविरति, सर्वविरति पूर्वप्रतिपन्न होती है।

आहारक देह युक्त तीनो योगो मे देश-विरति के अतिरिक्त तीनो सामायिक पूर्वप्रतिपन्न होती है। केवल तैजस कार्मण मे अन्तराल गति से सम्यक्त्व एव श्रुत सामायिक पूर्वप्रतिपन्न होती है।

केवली समुद्घात मे सम्यक्त्व एव सर्वविरति चारित्र पूर्वप्रतिपन्न होते हैं।

केवल मनोयोग और वचनयोग किसी को होते ही नही हैं।

काया वचन योग में दो इन्द्रिय आदि जीव उत्पत्ति के समय सास्वादन की अपेक्षा से श्रुत एव सम्यक्त्व दो सामायिको के पूर्वप्रतिपन्न हो सकते हैं।

(१९) देह द्वार—औदारिक देह मे चारो सामायिक दोनो प्रकार से होती हैं। वैक्रिय देह मे सम्यक्त्व एव श्रुत सामायिक प्राप्ति की रटन होती है, क्योकि देव कभी-कभी नरक मे जाते हैं और कभी-कभी नही जाते, और वैक्रिय देह बनाते समय मनुष्य एव तिर्यंच भी देशविरति एव सर्व-विरति प्राप्त नही करते। पूर्वप्रतिपन्न तो चारो सामायिको के होते हैं। आहारक देह मे देशविरति के अतिरिक्त तीनो सामायिक पूर्वप्रतिपन्न होती है। तैजस-कार्मण देह में अन्तराल गति से श्रुत एव सम्यक्त्व पूर्व-प्रतिपन्न हो सकती है।

(२०-२१) ज्ञान द्वार एवं उपयोग द्वार—उपयोग के मुख्य दो प्रकार है—(१) साकार और (२) निराकार।

(१) साकार उपयोग ज्ञानस्वरूप है।

(२) निराकार उपयोग दर्शनस्वरूप है।

इन दोनो प्रकारो में सामान्यतया चारो सामायिको की प्राप्ति (प्रतिपत्ति) होती है और पूर्वप्रतिपन्न होती हैं।

पाच ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल ज्ञान।

चार दर्शन—चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन।

मतिज्ञानी एवं श्रुतज्ञानी सम्यक्त्व एव सामायिक एक साथ प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु देश-विरति एव सर्व-विरति सामायिक विकल्प से कोई जीव प्राप्त करे और कोई जीव प्राप्त न भी करे। पूर्वप्रतिपन्न नियमा होती है।

चक्षुदर्शन एव अचक्षुदर्शन में मति एव श्रुत के अनुसार समझ लें।

अवधिज्ञान एव अवधिदर्शन मे सम्यक्त्व एव श्रुत सामायिक के पूर्वप्रतिपन्न ही होते हैं परन्तु नवीन प्राप्ति नही करते तथा वे देशविरति सामायिक भी प्राप्त नही करते; क्योकि देव, नारक, सयमी एवं श्रावक इन चार मे से प्रथम तीन को देश-विरति सामायिक प्राप्त होने की सम्भावना नही है, श्रावक भी पूर्व मे देश-विरति गुण युक्त होता है, तत्पश्चात् वह अवधि प्राप्त करता है और सर्व-विरति सामायिक मनुष्य को आश्रित होकर दोनो प्रकार से होती है।

मन पर्यवज्ञानी देश-विरति के अतिरिक्त तीनो सामायिको के प्रतिपन्न होते हैं परन्तु प्रतिपद्यमान नही होते अथवा तीर्थंकर भगवान मनःपर्यवज्ञान एव सर्व-विरति चारित्र एक साथ प्राप्त करते है।

केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन मे भवस्थ केवली सम्यक्त्व एव सर्वविरति चारित्र के पूर्व-प्रतिपन्न ही होते हैं, अत नवीन प्राप्त करना ही नही पड़ता।

प्रश्न—सिद्धान्त मे तो यह कहा गया है कि समस्त प्रकार की लब्धियो की प्राप्ति साकार उपयोग वाली आत्मा को ही होती हैं, निराकार उपयोग वाली आत्मा को नही होती, तो यहाँ निराकार उपयोग मे भी चारो सामायिको की प्राप्ति हो सकती है, यह किस प्रकार हो सकता है ?

उत्तर—उपर्युक्त सिद्धान्त का नियम प्रवर्धमान परिणाम वाले जीवो की अपेक्षा से है, अर्थात् जैसे जीव साकार उपयोग मे ही समस्त प्रकार की लब्धि एव सम्यक्त्व आदि सामायिक प्राप्त करते हैं, परन्तु स्थिर परिणाम वाले जीव तो निराकार उपयोग मे भी चारो प्रकार की सामायिक प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विरोध नही रहता।

प्रश्न—आपके कथनानुसार निराकार उपयोग मे भी यदि लब्धि की उत्पत्ति होती हो, तो आगम ग्रन्थो मे यह विधान क्यो किया गया है कि साकार उपयोग वाले को ही लब्धि उत्पन्न होती है ?

उत्तर—इसका कारण यह है कि लब्धियो की प्राप्ति प्रायः प्रवर्धमान-परिणामी जीवो को ही होती है। जीव के स्थिर परिणाम तो औपशमिक सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति के समय ही होते हैं। अत निराकार उपयोग वाले को अत्यन्त ही अल्प समय में लब्धि प्राप्त होती होने से यहाँ उसकी विवक्षा नही की गई है।

इस सम्बन्ध मे विशेष स्पष्टीकरण करते हुए वृत्तिकार महर्षि एक महत्वपूर्ण निदेश देते हैं कि—"जब आगम ग्रन्थो की कोई भी बात परस्पर विरोधाभास प्रकट करती हो तो उसका सापेक्ष रीति से, स्याद्वाद दृष्टि से समन्वय करके दोनो बातो का रहस्य समझने का प्रयास करना चाहिये।" केवल स्थूल दृष्टि से प्रतीत होते विरोध को आपत्तिजनक मान लेने की गम्भीर भूल न हो जाये उसकी विशेष सावधानी रखनी चाहिये, अन्यथा 'उत्सूत्रप्ररूपण' का महान पाप लगे बिना नही रहेगा।

वृत्तिकार महर्षि का विशेष स्पष्टीकरण-प्रस्तुत आगम-पक्ति

'सव्वाओ लद्धिओ सागारोवओगम्मि'—'समस्त लब्धि साकार उपयोग में उत्पन्न होती हैं—यह बताती है। दूसरी एक आगम-पंक्ति का कथन है कि—'उवओगदुगम्मि चउरोपडिवज्जे'—दोनो उपयोगो मे चारो सामायिक प्राप्त होती है।

स्थूल दृष्टि से परस्पर विरोधी प्रतीत होती इन दोनों पंक्तियो का सापेक्षता से इस प्रकार समन्वय किया जा सकता है। जो जीव एक बार सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् मिथ्यात्व मे जाते हैं, तब उनमें से अनेक जीवो को शुभ कर्मोदय से प्रतिक्षण प्रवर्धमान विशुद्ध परिणाम उत्पन्न होने पर जो सम्यक्त्व, चारित्र आदि लब्धि अथवा अवधिज्ञान आदि लब्धि प्राप्त होती हैं वे साकार उपयोग की अवस्था में प्राप्त हुई हैं यह समझे और जो जीव सर्वप्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय अन्तरकरण मे प्रविष्ट होकर स्थिर अध्यवसायी बनते है, उस समय उन्हे जो सम्यक्त्व आदि लब्धि प्राप्त होती हैं, वे निराकार उपयोग में प्राप्त हुई हैं यह समझें।

अन्तरकरण मे स्थिर जीव सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक एक साथ प्राप्त करते हैं। उनमे भी अनेक अत्यन्त विशुद्ध परिणाम वाले जीव देश-विरति भी प्राप्त करते हैं और कोई अत्यन्त विशुद्ध परिणामी आत्मा सर्व-विरति प्राप्त करती है। इस प्रकार उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय स्थिर परिणामी निर्विकल्प उपयोग में प्रवर्तित आत्मा को चारो सामायिक प्राप्त हो सकती हैं, इसमे तनिक भी विरोध नही आता।

उपशम सम्यक्त्व प्राप्ति की विशेष प्रक्रिया कर्म-ग्रन्थ आदि से समझ लें। उसका संक्षिप्त सार यह है कि वन में लगी भयंकर दावाग्नि भी ऊसर भूमि के समीप आकर स्वत: ही शान्त हो जाती है। इस प्रकार अन्तरकरण की मिथ्यात्व अग्नि शान्त होने पर जीव 'उपशम सम्यक्त्व' प्राप्त करता है।

प्रश्न—अन्तरकरण मे जीव के परिणाम स्थिर क्यो हो जाते हैं ?

उत्तर—अन्तरकरण में मिथ्यात्व का उदय नही होने से अध्यवसाय को हानि नही होती और सत्तागत मिथ्यात्व शान्त हो जाने के कारण परिणामो मे वृद्धि नही होती। जिस प्रकार ईंधन के अभाव मे दावानल मे वृद्धि नही होती, उसी प्रकार वेदन-योग्य मिथ्यात्व पुद्गलो के अभाव में अन्तरकरण वाली अवस्था में जीव के विशुद्ध परिणाम स्थिर रहते हैं, उनमें वेग उत्पन्न नही होता।

निष्कर्ष यह है कि जब आत्मा का उपयोग विशुद्ध होता है तब चारों सामायिकों की प्राप्ति होती है।

उपयोग क्या है? उपयोग[1] जीव का लक्षण है। जीव लक्ष्य है, उपयोग लक्षण है। लक्षण के द्वारा लक्ष्य का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। आत्मा अनादि-सिद्ध, स्वतन्त्र द्रव्य है और वह अनन्त गुण-पर्यायमय है। उन सब मे 'उपयोग' प्रधान है। इसके द्वारा ही जड और जीव मे भेद किया जा सकता है, क्योंकि न्यूनाधिक अश मे शुभ अथवा अशुभ रूप में यह उपयोग समस्त आत्माओ मे सदा विद्यमान होता है, जबकि जड़ मे यह तनिक भी नही होता। उपयोग अर्थात् बोध रूप व्यापार। यह बोध-रूप व्यापार चेतना शक्ति के कारण ही होता है। जड मे चेतना शक्ति नही होने से उसमे बोध क्रिया—उपयोग भी नही है।

ज्ञान आदि गुण तथा औपशमिक आदि भाव भी जीव के लक्षणो के रूप मे बताये गये हैं। फिर भी 'उपयोग' का पृथक कथन जो तत्वार्थ सूत्र मे श्री उमास्वाति महाराज ने किया है, उससे ज्ञात होता है कि उपयोग जीव का असाधारण धर्म है, जो समस्त आत्माओ मे सब काल साथ रहने वाला है, जबकि औपशमिक आदि भाव जीव का स्वरूप होते हुए भी वे एक साथ समस्त जीवो मे नही होते और समस्त कालो मे भी नही होते। समस्त आत्माओ में समस्त कालो में स्थिर रहने वाला एक जीवत्व रूप पारिणामिक भाव है और उसका फलितार्थ उपयोग ही होता है।

इस उपयोग के मुख्य दो भेद है जिनका सामान्य निर्देश पहले किया जा चुका है। अब हम उस पर विशेप विचार करेंगे।

(१) साकार उपयोग रूप बोध ग्राह्य पदार्थ को विशेप रूप से बतलाता है और उसे ज्ञान अथवा सविकल्प बोध भी कहते हैं।

(२) निराकार उपयोग रूप बोध-ग्राह्य पदार्थ को सामान्य रूप से बताता है और उसे दर्शन तथा निर्विकल्प बोध भी कहते हैं।

पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान की अपेक्षा से साकार उपयोग के आठ भेद और चार दर्शन की अपेक्षा से निराकार उपयोग के चार भेद बताये गये हैं। इस तरह उपयोग के कुल बारह भेद होते हैं।

इस विराट विश्व मे अधिकतर जीव अज्ञान आदि के कारण अशुभ

---

१ "उपयोगो लक्षणम्" —तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय २, सूत्र ८

उपयोग वाले ही होते हैं। जीव का शुभ उपयोग महान पुण्योदय से होता है।

निर्ग्रन्थ सद्गुरु आदि के शुभ सयोग से उनका धर्मोपदेश श्रवण करने से तत्व-श्रद्धा उत्पन्न हो, ससार की विषमता एव असारता समझ मे आये, उनके प्रति तीव्र राग-द्वेष क्षीण हो जाये और हिसा आदि पाप प्रवृत्तियो का परित्याग करके सद् अनुष्ठानो का सेवन करता है तब जीव का अशुभ उपयोग मिट कर शुभ बनता है।

तत्पश्चात् ज्यो-ज्यो आध्यात्मिक विकास मे वृद्धि होती जाती है, त्यो-त्यो यह उपयोग शुभ, शुभतर होते-होते क्रमश सर्वथा विकल्प रहित हो जाता है और इस अवस्था मे हो साधक व्यक्ति अपने शुद्ध स्वभाव का आशिक अनुभव करता है।

'उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय अविकल्प-निराकार उपयोग मे वर्तमान आत्मा को सर्व-प्रथम स्वशुद्ध स्वभाव की अनुभूति होती है।' -यह आगम-पक्ति अत्यन्त ही मननीय है। उपयोग का कोई गुप्त रहस्य इसमे लुप्त प्रतीत होता है।

इस उपशम सम्यक्त्व अवस्था में 'निराकार उपयोग' हाता है अर्थात् अचक्षुदर्शनात्मक मन का अविकल्प उपयोग होता है।

मन की निर्विकल्प अवस्था तक पहुचने के लिये विभिन्न शास्त्रो में यम-नियम आदि तथा भक्तियोग, राजयोग और ज्ञानयोग आदि अनेक प्रक्रिया बताई गई हैं।

'साकार एव निराकार उपयोग में ही समस्त प्रकार की लब्धियाँ एव सिद्धियाँ प्रकट होती है'—इस शास्त्रीय विधान के द्वारा 'शुद्ध उपयोग' विशिष्ट ध्यान एव महान् समाधि स्वरूप सिद्ध होता है।

उपयोग विशिष्टता एवं तारतम्यता—श्री अनुयोग द्वार सूत्र मे लोकोत्तरभाव आवश्यक के स्वरूप का वर्णन करते हुए शास्त्रकार महर्षि ने सामायिक आदि षड् आवश्यक की प्रक्रिया मे प्रवृत्त साधक के उपयोग (ध्यान) मे कैसी विशिष्टता और तारतम्यता होती है उसे स्पष्ट किया है जो निम्नलिखित है—

(१) 'तच्चित्त'—वही आवश्यक कि ध्यान आदि मे साधक सामान्य उपयोग वाला होता है।

(२) 'तन्मन'—वही आवश्यक कि ध्यान आदि मे साधक विशेष उपयोग वाला होना है।

(३) 'तल्लेश्य'—वही आवश्यक कि ध्यान आदि मे साधक तेजो-लेश्या युक्त (शुभ परिणामी) होता है।

(४) 'तदध्यवसित'—वही आवश्यक कि ध्यान आदि मे साधक क्रिया सम्पादन करने के उत्साह अथवा निश्चय से युक्त होता है।

(५) 'तत्तीव्राध्यवसान'— वही आवश्यक कि ध्यान आदि मे साधक आरम्भ से ही प्रतिक्षण उन्नतिशील विशिष्ट प्रकार का प्रयत्न करता है।

(६) 'तदर्थोपयुक्त'—वही आवश्यक कि ध्यान आदि मे साधक पदार्थ के अर्थ में अत्यन्त उपयोग वाला (प्रशस्ततर सवेग से विशुद्ध होकर प्रत्येक सूत्र एव क्रिया के अर्थ मे उपयुक्त) होता है।

(७) 'तदर्पितकरण'—वही आवश्यक कि ध्येय पदार्थ के अर्थ मे साधक के रजोहरण आदि उपकरण और मन, वचन, काया आदि योग यथायोग्य अर्पित—नियुक्त हुए होते हैं।

(८) 'तद्भावभावित'—वही आवश्यक कि ध्येय पदार्थ के अर्थ की भावना (प्रवाह युक्त पूर्व सस्कारो की धारा) से साधक तादात्म्य होता है।

(९) 'प्रस्तुत क्रिया के अतिरिक्त अन्य किसी क्रिया में साधक अपना मन जाने नही देता।'

उपर्युक्त समस्त विशेषण उपयोग का प्रकर्ष बताने वाले अर्थात् उपयोग की विशेष वृद्धि होती विशुद्धि के ही द्योतक होने से एकार्थ-वाची हैं।

आवश्यक अथवा ध्यान करते समय जब चित्त की एकाग्रता में वृद्धि होने लगती है, तब सर्वप्रथम साधक का ध्येय विषय मे सामान्य[1] उपयोग होता है, तत्पश्चात् उक्त उपयोग विशिष्ट[2] कोटि का हो जाता है, फिर शुभ परिणाम रूप[3] लेश्या उत्पन्न होती है (अर्थात् तेजो, पद्म अथवा शुक्ल लेश्या के परिणाम होते हैं) चतुर्थ भूमिका मे ध्यान आदि क्रिया की[4] पूर्णा-हुति करने के लिये अपूर्व उल्लास उत्पन्न होता है और आत्मविश्वास जागृत होता है कि—'प्रारम्भ किया हुआ यह ध्यान अवश्य पूर्ण होगा।' तत्पश्चात् क्रिया के प्रारम्भ से[5] ही वृद्धि की ओर बढने वाले अध्यवसायो की उन्नति होती है, जिससे ध्येय के[6] अर्थ मे विशुद्ध संवेगयुक्त अपूर्व एकाग्रता उत्पन्न होती है। फिर अर्थोपयोग के फलस्वरूप मन[7] वचन और काया इन तीनो के ध्येय के स्वरूप मे तद्रूप हो जाते हैं, जिससे साधक साध्य[8] के साथ अभागी भाव से तादात्म्य हो जाता है। फिर तो साधक का मन ध्येय के चिन्तन[9] के अतिरिक्त अन्यत्र जाने के लिये प्रेरित होता ही नही।

इस प्रकार ध्यान अथवा आवश्यक क्रिया 'लोकोत्तर-भाव क्रिया' बन जाती है जो शीघ्र फलदायिनी होती है। इस क्रिया को 'अमृत-क्रिया' भी कहा जा सकता है।

उपयोग और ध्यान—उपयोग और ध्यान इन दोनों में कितना साम्य है, उस पर शास्त्रीय पाठो के निर्देश सहित चिन्तन किया जाता है जिससे जिज्ञासुओ को "उपयोग" की रहस्यपूर्ण विशिष्टता का सुन्दर ख्याल आ जायेगा।

ध्यान

(१) "अन्तोमुहुत्तमित्तं चित्तावत्थाणमेग-वत्थुम्मि।"

एक ही वस्तु मे अन्तर्मुहूर्त काल तक चित्त का अवस्थान ध्यान है।

(समवायागसूत्र)

(२) "ध्यान चैकाग्रसवित्ति।"

एकाग्रज्ञान अर्थात् ज्ञान की एकाग्रता ही ध्यान है। (ज्ञानसार)

ध्यान की विविध व्याख्याएँ

समस्त इन्द्रियो को भ्रूमध्य आदि स्थानो मे केन्द्रित करके जो चिन्तन किया जाता है उसे भी ध्यान कहते है।

श्रुत ज्ञान को भी "शुभ ध्यान" कहा है। चिन्ता और भावनापूर्वक स्थिर अध्यवसाय को भी ध्यान माना है।

निराकार-निश्चल बुद्धि, एक प्रत्यय-संतति, सजातीय प्रत्यय की धारा, परिस्पद-वर्जित एकाग्र चिन्ता निरोध, आदि ध्यान की अनेक व्याख्या की गई हैं।

ध्यान अथवा समाधि मे भी "एकाग्र उपयोग" को अत्यन्त ही प्रधानता दी गई है।

ध्याता का ध्येय मे एकाग्र उपयोग

उपयोग

(१) 'उवओगतमुहुत्त'

उपयोग का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। (विशेपा०, गाथा २७६३)

(२) उपयोग ज्ञान और दर्शन स्वरूप है।

(अ) ज्ञपरिज्ञा, (ब) प्रत्याख्यान परिज्ञा।

(अ) ज्ञपरिज्ञा आत्मज्ञान स्वरूप है।

(ब) प्रत्याख्यान परिज्ञा आत्मानुभूति स्वरूप है।

भाव निक्षेप के दो प्रकार—

(अ) आगम (ब) नोआगम

(अ) आगम से भाव निक्षेप अर्थात् ज्ञानोपयोग वाली आत्मा।

(ब) नोआगम से भाव-निक्षेप अर्थात् ज्ञानयुक्त अनुभूति वाली आत्मा।

भाव निक्षेप के दोनो प्रकारो मे "उपयोग" अवश्यमेव होता है।

प्रथम प्रकार मे ज्ञान-उपयोग की प्रधानता है।

दूसरे प्रकार मे उपयोग युक्त अनुभूति की प्रधानता है।

"ध्यान" है और ध्येयाकार को प्राप्त उपयोग "समाधि" है।

योगशास्त्र मे प्रणिधान और समापत्ति के दो प्रकार बताये गये हैं—

(१) संभेद प्रणिधान,[1] जो सविकल्प ध्यान रूप है।

(२) अभेद प्रणिधान, जो निर्विकल्प ध्यान रूप है।

समापत्ति-समाधि के दो भेद—

(१) सवितर्क समाधि—पर्याययुक्त स्थूल अथवा सूक्ष्म द्रव्य का ध्यान।

(१) निर्वितर्क समाधि—पर्यायरहित स्थूल अथवा सूक्ष्म द्रव्य का ध्यान।

पातजल योगदर्शन और अभिमत समापत्ति की व्याख्या—

"क्षीणवृतेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृ - ग्रहण—ग्राह्येषु तात्स्थ्यतद जनता समापत्तिः।"

उत्तम जातीय स्फटिक मणि तुल्य राजस एवं तामस वृत्ति रहित निर्मल चित्त की गृहीता, ग्रहण एवं ग्राह्य विषयो में स्थिरता होकर जो तन्मयता होती हैं वह 'समापत्ति' है।

"योगशतक" मे "उपयोग" का समीपयोग के रूप मे वर्णन किया है। उप=समीप, योग=व्यापार।

समस्त अनुष्ठानो मे शास्त्रोक्त विधि का पालन ही उपयोग है। इसके द्वारा योग की शीघ्र सिद्धि होती है।

इस कारण वह "समीपयोग" कहलाता है।

आगम ग्रन्थो मे "तद्चित्त" आदि पदो के द्वारा उपयोग तारतम्य बताया गया है। उसके सम्बन्ध मे आचार्य हरिभद्रसूरिजी महाराज ने भी अपने "योग-शास्त्र" मे कहा है कि ध्येय पदार्थ मे तद्चित्त (एकाग्र) चित्त वाले को तथा सतत उपयोग रहने से तत्वभासन (अनुभव ज्ञान) होता है, अर्थात् वस्तु का वास्तविक स्वरूप समझ मे आता है और उक्त तत्वभासन (अनुभव ज्ञान) ही इष्ट-सिद्धि का प्रधान अग है।

"सकललब्धिनिमित्त साकारोपयोगत्वाद् इष्टसिद्धे।"

अनुभवज्ञान साकारोपयोगमय है, अत वह समस्त प्रकार की सिद्धियो और लब्धियो का बीज है और इसके द्वारा "इष्ट सिद्धि" भी अवश्य होती है।

उपयोग के दो प्रकार—

(अ) साकार, (ब) निराकार।

---

(१) जिस प्रणिधान मे ध्याता का ध्येय के साथ सश्लेष-सम्बन्ध रूप भेद होता है, उसे सभेद प्रणिधान कहते हैं।

(२) जिस प्रणिधान मे ध्येय के साथ अपनी आत्मा का समस्त प्रकार से अभेद भावित हो, उसे अभेद प्रणिधान कहते हैं।

जो समापत्ति शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पो से युक्त होती है उसे 'सविकल्प अथवा सवितर्क' समापत्ति कहते हैं।

जो शब्द, अर्थ और ज्ञान से रहित केवल ध्येयाकार (अर्थ) के रूप मे प्रतीत होती हो तो वह 'निर्विकल्प निर्वितर्क' समापत्ति कहलाती है।

उपर्युक्त दोनो भेद स्थूल, भौतिक पदार्थ-विषयक समापत्ति के जानें। सूक्ष्म परमाणु आदि विषय वाली समापत्ति को 'सविचार एवं निर्विचार' समापत्ति कहते हैं। इस चारो प्रकार की समापत्ति को 'संप्रज्ञात समाधि' भी कहा जा सकता है।

इस प्रकार जब ज्ञाता का उपयोग ज्ञेयाकार के रूप मे परिणत हो जाता है तब वह 'समापत्ति' कहलाता है।

(अ) साकार उपयोग भेदग्राहक है।

(ब) निराकार उपयोग अभेदग्राहक है।

जैनागम दृष्टि से समापत्ति—

जिन पदार्थ का ज्ञाता उसके उपयोग वाला हो तो वह ज्ञाता भी तत्परिणत होने से आगम से भाव निक्षेप से "तत्त्वरूप" कहलाता है। जिस प्रकार नमस्कार मे[1] उपयोग वाली आत्मा नमस्कार परिणत होने से "नमस्कार" कहलाती है।

मणाविव प्रतिच्छाया
समापत्ति. परात्मन.।
क्षीणवृत्तौ भवेद ध्यानाद्
अन्तरात्मनि निर्मले ॥ (ज्ञान०)

मणि के समान निर्मल वृत्ति वाली अन्तरात्मा मे एकाग्र ध्यान के द्वारा जो परमात्मा का प्रतिबिम्ब पडता है वही समापत्ति है। अथवा अन्तरात्मा मे परमात्मा के गुणो का अभेद आरोप करना "समापत्ति" है। यह अभेद आरोप गुणो के ससर्गारोप से सिद्ध होता है।

ससर्गारोप अर्थात् सिद्ध परमात्मा के अनन्त गुणो मे अन्तरात्मा का एकाग्र उपयोग, ध्यान अथवा स्थिरता होना (ससर्गारोप चित्त की निर्मलता होने से ही होता है)।

उपर्युक्त शास्त्र-पाठो के द्वारा समन्वय दृष्टि से अनुप्रेक्षा करने वाला वाचक सरलतापूर्वक समझ सकता है कि समस्त प्रकार के योगों में चित्त की स्थिरता, एकाग्रता अथवा तन्मयता के रूप मे 'उपयोग' अवश्य होता है।

---

१ नमोक्कार परिणओ जो तओ नमोक्कारो। —विशेषावश्यक, गाथा २९३२

उपयोग के ज्ञान स्वरूप एव दर्शन स्वरूप दो भेद बताने के पीछे मुख्य कारण यही है कि लब्धि-शक्ति के रूप मे ये दोनो (ज्ञान दर्शन) सहचारी होते हुए भी उन दोनो का 'उपयोग' साथ-साथ नही होता।

'उपयोग' क्रमवर्ती है। एक साथ अनेक क्रियाएँ करने पर भी जीव का उपयोग एक समय मे एक क्रिया मे ही होता है।

'विशेषावश्यक भाष्य" मे स्पष्टतया कहा है कि 'जिस समय उपयोग-मय जीव (केवल उपयोग से निर्वृत) इन्द्रिय अथवा मन से जिस जिस विषय में सम्मिलित होता है, उस समय उसमे ही उपयुक्त बना हुआ वह वस्तु के उपयोग वाला होता है, परन्तु उस समय उसे अन्य पदार्थ का बोध नही होता।'

विशेष स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार महर्षि कहते हैं कि जिस समय जीव किसी एक क्रिया मे विवक्षित अर्थात् पदार्थ के चिन्तन मे उपयुक्त बनता है, तब वह अपनी समग्र, सम्पूर्ण ज्ञान-शक्तिपूर्वक उसमे तन्मय हो जाता है, अर्थात् समस्त आत्म-प्रदेशो के द्वारा वह एक ही पदार्थ के उपयोग मे योजित हो जाता है। तत्पश्चात् उसके पास अन्य कोई भी ज्ञान-शक्ति शेष नही रहती, कि जिसके द्वारा वह उसी समय अन्य किसी पदार्थ में अथवा क्रिया मे 'उपयोग' रख सके।

उपयोग की इस स्पष्ट व्याख्या की समापत्ति के लक्षणो के साथ तुलना करने पर उन दोनो में कोई अर्थ-भेद प्रतीत नहीं होता, क्योकि समापत्ति मे जिस प्रकार ध्याता के ध्यान की ध्येयाकार मे परिणति होती है, उसी प्रकार से उपयोग में भी ज्ञाता के ज्ञान की ज्ञेयाकार मे परिणति होती है, तो ही उसे उस पदार्थ का स्पष्ट बोध होता है, अन्यथा नही।

चारो सामायिक की प्राप्ति के समय सामायिकवान् व्यक्ति का साकार अथवा निराकार उपयोग अवश्य होता है, इस कारण ही सामायिक मे 'समाधि अथवा समापत्ति' आदि योगो का अन्तर्भाव हो चुका है।

साधु की दिनचर्या मे भी प्रतिक्रमण एव प्रतिलेखन के पश्चात् सज्झाय (शास्त्राध्ययन) एव उपयोग करने का जो विधान है उसमे 'उपयोग' शब्द अत्यन्त ही रहस्यमय है, जिससे 'योगाभ्यास' आदि का ज्ञान होता है। कहा भी हैं कि—

'गुरु-विनय, स्वाध्याय, योगाभ्यास, परार्थकरण और इतिकर्त्तव्यता साधु की सच्चेष्टाएँ हैं।' —(षोडशक)

उपयोग आत्मा का स्वभाव होने से गुणस्थानक की प्रथम भूमिका से प्रारम्भ होकर चौदहवें गुणस्थानक तक उसकी विशुद्धि के प्रकर्ष मे वृद्धि होती ही रहती है।

सामायिक की प्राप्ति के पश्चात् उपयोग विशुद्ध, विशुद्धतर होता जाता है। उपयोग एव सामायिक परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं, सहायक है। समता से उपयोग विशुद्ध बनता है और उपयोग की विशुद्धता से समता (सामायिक) विशुद्ध बनती है। कहा भी है कि समता भाव[1] के बिना आत्मध्यान सम्भव नही है और ध्यान के बिना निष्कम्प समता प्रकट होना असम्भव है। अतः ध्यान का कारण समता है और समता का कारण ध्यान है।

यहाँ ज्ञान की एकाग्रता स्वरूप (उपयोग स्वरूप) ध्यान अपेक्षित है। जिनागमो मे केवल "चित्त-निरोध" को ही नही, परन्तु तीनो योगो से ध्यान माना है। मन, वचन अथवा काया के अतिशय दृढ प्रयत्न पूर्वक किया गया व्यापार भी ध्यान ही है।

"ध्यै" धातु के अनेक अर्थ हैं, उनमे से "करण-निरोध" अर्थ लेकर केवली के "शैलेशीकरण" की प्रक्रिया के समय किये जाने वाले "काय-निरोध" रूप प्रयत्न विशेष को "ध्यान" माना गया है।

छद्मस्थ को "चित्त-निरोध" स्वरूप ध्यान होता है।

भवस्थ केवली को चिन्तन के अभाव मे भी दो प्रकार का शुक्ल ध्यान होता है, जिसके होने के अनेक कारण भी हैं, जैसे—

जीव-उपयोग का ऐसा स्वभाव।
पूर्व-विहित ध्यान के संस्कार।
कर्म की निर्जरा।
एक शब्द के अनेक अर्थ।

जिस प्रकार छद्मस्थ को धर्म-ध्यान होता है, उसी प्रकार से केवली को भी अन्तिम दो शुक्ल ध्यान होते हैं। जब केवली "योग-निरोध" करते हैं, तब उन्हें दो प्रकार के ध्यान होते हैं।" यह आगम पाठ भी हेतु है।

सामायिक एव उपयोग का सम्बन्ध—आगम ग्रन्थों मे "सामायिक"

---

१ न साम्येन विना ध्यान न ध्यानेन विना च तत्।
निष्कप जायते तस्मात् द्वयमन्योन्यकारणम्॥ १॥ —योगशास्त्र

आदि श्रुत के चार सामान्य नाम बताये गये हैं—(१) अध्ययन, (२) अक्षीण, (३) आय और (४) क्षपणा।

उसमे "अक्षीण" की व्याख्या है कि जो कदापि क्षीण न हो।

"आगम से भाव अक्षीण" उसे कहते हैं कि जो ज्ञाता उपयुक्त हो। इस पक्ति का रहस्य प्रकट करते हुए गीतार्थ ज्ञानी महर्षि कहते है कि—

चतुर्दश पूर्व के पारगामी महात्माओ का उपयोग जब आगम की पर्यालोचना मे जुडता है, तब "अन्तर्मुहूर्त" जितने समय मे जिस विशुद्ध अर्थज्ञान (उपयोग पर्यायो) की विविध स्फुरणाएँ उत्पन्न होती हैं, वे सख्यातीत होती है अर्थात् अनन्त होती हैं। उनमे से यदि प्रत्येक बार एक-एक पर्याय का अपहार किया जाये तो अनन्त कालचक्र तक भी उक्त अपहरण की क्रिया पूर्ण नही हो सकती। इस कारण ही सामायिक आदि श्रुत "अक्षीण" कहलाते हैं।

इससे सामायिक की अक्षीणता एव उपयोग का महत्व तथा दोनो का पारस्परिक गाढ सम्बन्ध कैसा है, यह सरलता से समझ मे आ जाता है।

सामायिक एव उपयोग की एकता

उपयोग को उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की ही है और सामायिक का काल भी उपयोग की अपेक्षा से इतना ही माना गया है।

सामायिक की प्राप्ति एव अस्तित्व विशुद्ध उपयोग मे होता है, अर्थात् सामायिक मे विशुद्ध उपयोग अवश्य होता है। इस प्रकार दोनो कथचिद् अभिन्न हैं।

श्रुतज्ञान का एकाग्र उपयोग श्रुत सामायिक है।

सम्यग् श्रद्धा मे एकाग्र उपयोग सम्यक्त्व सामायिक है।

देशविरति के परिणाम मे एकाग्र उपयोग देशविरति सामायिक है।

सर्वविरति के परिणाम मे एकाग्र उपयोग सर्वविरति सामायिक है।

इस सबका तात्पर्य यही है कि समता परिणाम उपयोगयुक्त हो तो ही सामायिक कहलायेगा और उपयोग यदि समता परिणामयुक्त हो तो ही विशुद्ध उपयोग कहलाता है। इस प्रकार उपयोग सामायिकमय है और सामायिक उपयोगमय है। ये दोनो परस्पर एक-दूसरे से सकलित हैं। क्षण भर के लिये भी ये दोनो एक-दूसरे से अलग नही रह सकते, फिर भी विवक्षा-भेद से उनका स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार से बताया गया है। परमार्थ से वे दोनो आत्म-परिणाम स्वरूप होने से एक ही हैं, उपयोगमय आत्मा सामायिक है।

(२२-२३) संस्थानद्वार, संघयणद्वार—छओं सस्थान और सघयण में चारो सामायिक प्राप्त हो सकती हैं और प्राप्त किये हुए जीव होते हैं।

(२४) अवगाहना द्वार—अवगाहना अर्थात् देह की ऊँचाई का द्वार (नाप)।

मनुष्य की उत्कृष्ट अवगाहना तीन कोस और जघन्य से उगली का असख्यातवाँ भाग है। इस उत्कृष्ट और जघन्य के अतिरिक्त समस्त मध्यम अवगाहना में आने वाले समस्त मनुष्य सामायिक प्राप्त करते हैं और प्राप्त किये हुए तो होते ही हैं।

जघन्य अवगाहना वाले गर्भज मनुष्य सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक के पूर्वप्रतिपन्न होते हैं, प्रतिपद्यमान नही। उत्कृष्ट अवगाहना वालो को ये दोनो सामायिक दोनो तरह से होती हैं।

जघन्य मान वाले देव, नारक भी इन दोनो सामायिकों के पूर्व प्रतिपन्न होते हैं, प्रतिपद्यमान नही। मध्यम एवं उत्कृष्ट देह-मान वाले इन दोनों आद्य दो सामायिको के प्रतिपद्यमान एवं पूर्व प्रतिपन्न होते हैं।

तिर्यंच पचेन्द्रिय जघन्य अवगाहना वाले इन दोनो सामायिकों के पूर्वप्रतिपन्न होते हैं, प्रतिपद्यमान नही। उत्कृष्ट अवगाहना वाले दोनो तरह से दोनो सामायिक प्राप्त करते हैं। मध्यम देह-मान वाले अथवा सर्वविरति के अतिरिक्त तीन सामायिको के प्रतिपद्यमान सभव होते हैं। पूर्वप्रतिपन्न तीनों के होते ही हैं।

(२५) लेश्याद्वार—सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक समस्त लेश्याओ में प्राप्त होती है। देशविरति और सर्वविरति सामायिक तेजस, पद्म और शुक्लरूप शुद्ध लेश्या में प्राप्त होती हैं, जबकि पूर्वप्रतिपन्न तो छः में से किसी भी लेश्या में चारित्री एव सम्यग्दृष्टि को होती है।

(२६) परिणामद्वार—आत्मा के परिणाम-अध्यवसाय, तीन प्रकार के होते हैं। (१) वर्धमान—वृद्धि होते, (२) हीयमान—घटते, (३) अवस्थित—स्थिर।

शुभ शुभतरपन से वृद्धि होते परिणाम मे जीव चारो सामायिको मे से किसी भी सामायिक को प्राप्त करता है। इसी प्रकार अन्तरकरणादि अवस्थित शुभ परिणाम मे समझें।

हीयमान—हानि होते शुभ परिणाम मे कोई भी सामायिक प्राप्त नही होती।

पूर्वप्रतिपन्न तीनो प्रकार के परिणाम मे होती है, अर्थात् सामायिक प्राप्त होने के पश्चात् उसमे हो स्थित जोव के शुभ परिणाम मे ज्वार-भाटा हो सकता है।

आत्म-परिणामो की वृद्धि एव हानि का काल जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त का हो है। अन आगे एकधारी विशुद्धि अथवा संक्लेश नही टिक सकते, परन्तु उनमें तनिक परिवर्तन अवश्य होता है।

अवस्थित परिणाम अर्थात् वृद्धि-हानि का मध्य काल, अर्थात् वृद्धि अथवा हानि वाले अध्यवसाय स्थान में आत्मा स्थिर रहे तो अधिक से अधिक आठ समय तक रह सकतो है, तत्पश्चात् अथवा तो वर्धमान परिणामी वनती है अथवा हीयमान परिणामो वनतो है।

परिणाम की इस परावृत्ति का हेतु उसका तथा-स्वभाव हो है, अन्य कोई कारण नही है।

(२७) वेदना द्वार—शाता एवं अशाता रूप द्विविध वेदना में जीव चार मे से कोई भी सामायिक प्राप्त कर सकता है, तथा पूर्वप्रतिपन्न भो होता है।

इस द्वार से सूचित होता है कि केवल शारीरिक अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता सामायिक की प्राप्ति मे कारणभूत नही है। भयकर वेदना को समभाव से सहन करते हुए मुनि केवलज्ञान प्राप्त करते हैं और नरक में घोर यातनाओ से पोडित नारकोय जीव भी सम्यक्त्व आदि प्राप्त कर सकते हैं।

(२८) समुद्घात द्वार—एक साथ प्रवलतापूर्वक कर्म का घात करना "समुद्घात" कहलाता है। इसके सात भेद हैं—

(१) वेदना, (२) कषाय, (३) मृत्यु, (४) वैक्रिय, (५) तेजस, (६) आहारक और (७) केवलो समुद्घात।

समुद्घात करते समय जोव वेदना के साथ तन्मयता प्राप्त करता है, जिससे वह एक भी नवीन सामायिक प्राप्त नही कर सकता। पूर्वप्रतिपन्न दो अथवा तीन सामायिको का होता है, जिसमे "केवलो समुद्घात" में सम्यक्त्व एव चारित्र सामायिक होती हैं और शेष समुद्घात में सम्यक्त्व, श्रुत एव देशविरति अथवा सर्वविरति दो मे से एक—इस तरह तीन सामायिक होती है।

समुद्घात नही करने वाला जीव किसी भो सामायिक का प्रतिपद्यमान और पूर्वप्रतिपन्न होता है।

पहले "वेदना द्वार" मे सामायिक की प्राप्ति का विधान किया गया है और यहाँ "वेदना समुद्घात" मे निषेध किया गया है जिसका कारण स्पष्ट है कि समुद्घात के समय वेदना, कषाय आदि उत्कट होते हैं और साथ ही साथ जीव के परिणाम भी तद्रूप होते है जिससे व्याकुलता विशेष प्रमाण मे होती है, परिणाम अत्यन्त सक्लिष्ट बने हुए होते है। अत तीव्र सक्लेश मे सामायिक समता भाव की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

"केवली समुद्घात सम्बन्धी विशेषता का वर्णन आगे "स्पर्शना द्वार" मे किया जायेगा।"

(२९) निवेष्टन द्वार (निर्जरा)—(१) द्रव्य से समस्त कर्म-प्रदेशो की अर्थात् सामायिक के आवारक ज्ञानावरणीय, मोहनीय, कर्म-प्रदेशो की निर्जरा करने वाला और (२) भाव से क्रोध आदि कषायो की परिणति को घटाने वाला जीव किसी भी सामायिक को प्राप्त करता है और पूर्व प्रतिपन्न होता है, परन्तु जब अनन्तानुबधी आदि बाँधता हो अथवा कषायों की वृद्धि करता हो तब जीव कोई भी सामायिक प्राप्त नही कर सकता। शेष कर्मों के बन्धन के समय प्रतिपद्यमान और पूर्वप्रतिपन्न दोनो हो सकते हैं।

आगे "आश्रवकरण द्वार" मे इसी बात को अधिक स्पष्टतापूर्वक बताया जाता है कि जब जीव सम्यक्त्व आदि सामायिक प्राप्त करता है, तब शेष कर्मों का बन्ध शुरू होते हुए भी सामायिक के प्रतिबन्धक कर्मो की निर्जरा अवश्य करता होता है, परन्तु पूर्वप्रतिपन्न अर्थात् सामायिक प्राप्त करने के पश्चात् उक्त जीव कर्मो का सर्जन (बन्ध) और विसर्जन (निर्जरा) दोनो साथ-साथ करता रहता है।

क्रोध आदि कषायो की उत्कटता को सर्वथा क्षीण कर देने से और इन्द्रियो के विषय-वासना की तीव्र आसक्ति को तोड डालने से सामायिक की प्राप्ति होती है।

"विषय-विरक्ति एव कषाय-परित्याग" के द्वारा ज्यो-ज्यो मिथ्यात्व आदि कर्मों का क्षय होता है, त्यो त्यो तात्विक सामायिक—समताभाव की मात्रा मे वृद्धि होती जाती है।

(३०) उद्वर्तना द्वार—चारो गति मे विद्यमान एव एक से दूसरी गति मे गमनागमन करने वाले जीव कहाँ-कहाँ सामायिक के प्रतिपद्यमान अथवा पूर्वप्रतिपन्न होते है उसका विचार यहाँ किया जाता है।

(क) नरक गति स्थित जीव प्रथम दो सामायिक प्राप्त कर सकता है

और उन दो का पूर्वप्रतिपन्न होता है, नरक गति मे से निकला हुआ जीव यदि तिर्यंच मे उत्पन्न हुआ हो तो सर्वविरति के अतिरिक्त तीन और मनुष्य गति मे उत्पन्न हुआ हो तो चारो सामायिक प्राप्त कर सकता है, पूर्व प्रतिपन्न तो होता ही है।

(ख) तिर्यंच गति मे स्थित जीव आद्य तीन सामायिक प्राप्त कर सकता है और सामायिक प्राप्त किये हुए जीव तो होते ही हैं। वहाँ से निकलकर देव गति और नरक गति मे उत्पन्न होने वाले जीव आद्य दो और तिर्यंच मे उत्पन्न होने वाले जीव आद्य तीन और मनुष्य गति मे उत्पन्न होने वाले जीव चारो सामायिक प्राप्त कर सकते हैं, पूर्वप्रतिपन्न तो होते ही हैं।

(ग) मनुष्य गति मे स्थित जीव चारो सामायिक का प्रतिपत्ता और पूर्वप्रतिपन्न होता है। वहाँ से निकले हुए जीव को देव गति तथा नरक गति मे दो और तिर्यंच मे तीन सामायिक उभय रीति से होती हैं।

(घ) देव गति मे स्थित जीव आद्य दो सामायिको का प्रतिपत्ता और पूर्वप्रतिपन्न होता है। वहाँ से च्यव कर यदि जीव तिर्यंच मे आता है तो तीन और मनुष्य मे चारो सामायिक दोनो प्रकार से होती हैं।

एक गति मे से दूसरी गति मे गमनागमन करता कोई भी जीव अन्तराल गति मे कोई भी सामायिक प्राप्त नही करता, केवल आद्य दो सामायिको का पूर्वप्रतिपन्न हो सकता है।

उपर्युक्त द्वार के चिन्तन से "सर्वविरति सामायिक" की अत्यन्त दुर्लभता एव महत्ता समझी जा सकती है।

मोक्ष का अधिकारी मनुष्य ही है क्योकि वही सर्वविरतिधर हो सकता है। तत्व-चिन्तन मे ही सदा रत रहने वाले अनुत्तरवासी देव भी "सर्वविरति" प्राप्त करने के लिए मानव-जन्म प्राप्त करने के लिए लालायित रहते हैं और उसे प्राप्त करके मानव-जीवन में सम्पूर्ण सयम की सुविशुद्ध साधना करके आत्मा के शुद्ध बुद्ध-पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करते हैं। "चारित्र विन मुक्ति नही" यह उक्ति मुक्ति की प्राप्ति के लिए "चारित्र" की अनिवार्यता बताती है।

(३१) आश्रवकरण द्वार—मिथ्यात्वमोहनीय आदि कर्मों की निर्जरा करने वाला जीव कोई भी सामायिक प्राप्त कर सकता है। जो जीव पूर्व प्रतिपन्न होता है वह तो कर्म-बन्धन भी करता है कर्म-क्षय भी करता है।

(३२, ३३, ३४, ३५, ३६) अलंकार द्वार, शयन द्वार, आसन द्वार, स्थान द्वार, और चंक्रमण द्वार—मुकुट, कटक आदि अलकार धारण किये हो, धारण कर रहे हो अथवा अलकार रहित हो वे जीव कोई भी सामायिक प्राप्त कर सकते हैं जैसे—भरत चक्रवर्ती, पृथ्वीचन्द्र आदि। इसी तरह शयन, आसन, स्थान तथा चंक्रमण का परित्याग करते हो, तीनो अवस्था मे रहे हुए जीव चार मे से कोई भी सामायिक प्राप्त कर सकते हैं और पूर्व-प्रतिपन्न सर्वत्र होते हैं।

सामायिक की प्राप्ति के लिए किसी निश्चित आसन अथवा स्थान आदि का नियम नही होता। सोते-सोते, बैठे-बैठे अथवा खडे-खड़े और चलते-चलते भी सामायिक प्राप्त हो सकती है। वस्त्र, पात्र अथवा अलंकार मुक्ति के प्रतिबन्धक नही हैं, प्रतिबन्धक तो हैं राग, द्वेष और मोह। इनका नाश होने के पश्चात् ससार का कोई भी तत्व मोक्ष मे प्रतिबन्धक होने मे समर्थ नही है।

५. सामायिक का विषय

यहाँ सामायिक के विषय की व्यापकता बताई जा रही है।

(१) सम्यक्त्व सामायिक का विषय समस्त द्रव्य और समस्त पर्याय हैं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि आत्मा जिन-प्रणीत समस्त द्रव्यो एव समस्त पर्यायो मे श्रद्धा रखता है। एक पर्याय के प्रति भी अश्रद्धा मिथ्यात्व है। इस प्रकार सम्यक्त्व-सामायिक मे समस्त द्रव्य-पर्याय श्रद्धा रूप मे विषय होते हैं।

(२) श्रुत सामायिक का विषय समस्त द्रव्य और अनेक पर्याय होते हैं, क्योंकि श्रुतबोध (ज्ञान) कथनीय (शब्द-वाच्य) पर्यायो का ही बोधक होता है, परन्तु वह शब्दो के द्वारा अवाच्य पदार्थों को नही बता सकता।

(३) देशविरति सामायिक का विषय अमुक द्रव्य और अमुक पर्याय ही बनते हैं, क्योकि उसमे स्थावर जीवो की हिंसा आदि का त्याग देश से किया जाता है।

(४) सर्वविरति सामायिक का विषय समस्त द्रव्य और अमुक पर्याय ही बनते हैं, क्योकि उसमे दूसरे और पाँचवे महाव्रत मे समस्त द्रव्य-विषयक असत्य एव मूर्च्छा का त्याग किया जाता है, और जो पर्याय अवाच्य हैं उनका उपयोग नही हो सकता। अत समस्त पर्याय चारित्र के विषय नही बन सकते।

प्रश्न—शास्त्रो मे "सयम श्रेणी" के स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया गया है कि सयम श्रेणी का प्रथम स्थान (सबसे जघन्य) भी पर्याय की अपेक्षा समस्त आकाश प्रदेशो से अनन्तगुणा है, और तत्पश्चात् के स्थान अनन्त भागवृद्ध, असख्य भागवृद्ध सख्यात भागवृद्ध, सख्यात गुणवृद्ध, असख्यात गुणवृद्ध और अनन्त गुणवृद्ध, ऐसे छ प्रकार की पुन वृद्धि करते-करते असख्यात लोकाकाश प्रदेश-तुल्य-प्रमाण वाले असख्यात षड् स्थानको के द्वारा "सयम श्रेणी" होती है, तो फिर यहाँ समस्त पर्याय चारित्र के विषयभूत नही बन सकते। क्या इस विधान का पूर्वोक्त "सयम श्रेणी" के विधान के साथ विरोध नही आयेगा?

उत्तर—नही, विरोध नही आयेगा, क्योकि "सयम श्रेणी" मे केवल

ज्ञान एवं केवलदर्शन के पर्यायो की भी विवक्षा है। इस कारण ही इस "सयम श्रेणी" को समस्त आकाश प्रदेश से अनन्त गुनी पर्याय राशि प्रमाण वाली कही गई है, जबकि यहाँ जो पर्याय चारित्र मे उपयोगी हैं अर्थात् जिन्हे ग्रहण और धारण किया जा सकता है ऐसे पर्याय की ही विवक्षा की गई है, और उस प्रकार के पर्याय सख्या मे अल्प होने से समस्त पर्याय नही, परन्तु अमुक पर्याय ही चारित्र के विषयभूत हैं—यह कहा गया है।

इस प्रकार सामायिक धर्म के विषय की विशालता से सामायिक धर्म की भी व्यापकता प्रतीत होती है, क्योकि विषय के भेद से विषयी के भी भेद होते हैं। इस "सयम श्रेणी" के स्वरूप को गुरु-गम से समझा जाये तो सामायिक के विषय की व्यापकता का तनिक विशेष ज्ञान हो सकेगा।

सामायिक की दुर्लभता—

अकल्पनीय महिमामयी, सिद्धि-सुख-दायक सामायिक धर्म की प्राप्ति होना कोई सरल कार्य नही है। सामायिक धर्म अत्यन्त ही दुर्लभ है। चारो प्रकार की सामायिक प्राप्ति का महान सद्भाग्य तो एक मात्र मानव की ललाट मे ही लिखा गया है, परन्तु यह मानव जन्म प्राप्त होना ही अत्यन्त कठिन है। इसकी दुर्लभता का वर्णन करने के लिए शास्त्रो मे दस-दस दृष्टान्त अकित है।

मनुष्य-जन्म, आर्य-क्षेत्र, उत्तम जाति, कुल, रूप, आरोग्य, दीर्घ आयु, सद्बुद्धि, सद्धर्म का अवधारण एवं श्रद्धान आदि की प्राप्ति भी दुर्लभ, दुर्लभतर है, तो फिर "सामायिक" की प्राप्ति दुर्लभतम हो तो आश्चर्य ही क्या है ?

अनादि-अनन्त काल से इस विराट ससार-सागर मे प्रतिभ्रमण करते-करते जीव को उपर्युक्त दुर्लभ भावो की प्राप्ति महापुण्य योग से क्वचित् ही होती है।

दुर्लभ मानव-जन्म आदि उत्तम सामग्री प्राप्त करके भी जो व्यक्ति आत्म-भान भूलकर केवल भौतिक सुखो को प्राप्त करने और उनका उपभोग करने की अधी दौड-धूप मे पागल हो जाते हैं, उनके हाथो से तो इस अमूल्य मानव-जीवन का अवमूल्यन ही होता है, पुण्यशाली जीवन-धन व्यर्थ नष्ट हो जाता है।

तृषा से पीडित कोई व्यक्ति सरोवर के किनारे आने पर भी शीतल, स्वादिष्ट जल-पान करके अपनी तृषा मिटाने के लिए कुछ भी प्रयत्न न करे तो अन्त मे घुट-घुट कर काल का ग्रास बनता है, ऐसी ही दुर्दशा मानव

जीवन पाकर धर्म-श्रवण आदि की उत्तम सामग्री प्राप्त करके भी उसके प्रति श्रद्धा एव उसको आराधना किये विना केवल मृग-तृष्णा तुल्य भौतिक सुखो के पीछे जीवन की इतिश्री मानने वाले व्यक्तियो की होती है।

मानव-जन्म प्राप्त करने की अपूर्व खुमारी जिसके हृदय मे हिलोरें ले रही हो, वही व्यक्ति अहर्निश सद्धर्म का श्रवण, श्रद्धान एव उसकी आराधना के द्वारा तन, मन और जीवन को पवित्रतम वना कर क्रमश चारो सामायिको को प्रकट करने के धन्यतम क्षण प्राप्त करने का परम सौभाग्य प्राप्त कर सकता है। सम्यक्त्व आदि सामायिक प्राप्त करने के अनेक निमित्त शास्त्रो मे वर्णित है जैसे —

(१) प्रतिमा-दर्शन—वीतराग परमात्मा को शान्तरस प्रवाहित करती परम पावन प्रतिमा के दर्शन मात्र से युगो पुराने कर्मों के ढेर के ढेर ढहने लगते हैं, आत्मा लघु-कर्मी हो जाती है, मोह मन्द हो जाता है, राग का प्रवाह रुकने लगता है और द्वेष का दावानल बुझने लगता है। परमात्मा के शुद्धात्म स्वरूप का चिन्तन करते-करते स्वात्मा के शुद्ध स्वरूप का ध्यान आता है और उसे प्रकट करने की तीव्र रुचि, उत्कण्ठा जागृत होनी है।

इस प्रकार शुभ अध्यवसायो की धारा मे अग्रसर होने पर कोई पुण्यात्मा ग्रन्थि-भेद से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करता है अर्थात् "सम्यक्त्व सामायिक" को प्राप्त करता है। साथ ही साथ "श्रुत सामायिक" को भी और आगे वढकर देशविरति अथवा सर्वविरति सामायिक को भी प्राप्त कर सकता है। इस सम्बन्ध मे आर्द्रकुमार का दृष्टान्त अत्यन्त प्रेरक है।

अनार्य देश मे उत्पन्न होने पर भी अभयकुमार द्वारा प्रेषित परमात्मा की प्रतिमा के दर्शन मात्र से आर्द्रकुमार की आत्मा जग जाती है। सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति, आर्य देश मे आगमन, यावत् चारित्र-ग्रहण, क्षपक श्रेणी और केवलज्ञान तथा अन्त मे परमपद की प्राप्ति—इस सव मे मूल कारण परमात्मा की पुण्यमयी प्रतिमा का दर्शन ही तो था न ?

अरे, तिर्यंच योनि मे स्थित स्वयभूरमण समुद्र की मछली को प्रतिमा के आकार वाले अन्य मत्स्य अथवा कमल का दर्शन होने पर पूर्व अनुभूत परमात्म-दर्शन के सस्मरण जागृत होते हैं, जाति-स्मरण-ज्ञान होता है और पूर्वजन्म मे की गई विराधना का यह परिणाम ज्ञात होने पर वह उसके लिये अत्यन्त पश्चात्ताप करती है जिससे उसके समस्त अशुभ कर्म जलकर भस्म हो जाते है और सम्यग्दर्शन की अर्थात् सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत

सामायिक और देशविरति सामायिक की प्राप्ति होती है। ऐसा अद्भुत प्रभाव है परमात्मा की प्रतिमा के दर्शन का !

(२) धर्म-श्रवण—धर्मोपदेश के श्रवण से संसार का सत्य स्वरूप समझ मे आ जाता है, विभाव[1] की भयकरता का भान होता है और स्वभाव की सुन्दरता तथा शुभ-कारकता समझ मे आती है, तब आत्मा विभाव से हटकर स्वभाव मे स्थिर होती जाती है और क्रमश सम्यक्त्व आदि सामायिक धर्म प्राप्त करके आत्मा की सच्चिदानन्दमयी पूर्णता प्राप्त करती है।

परमात्मा श्री महावीर भगवान की धर्म-देशना का श्रवण करके आनन्द और कामदेव आदि के मोह का विषय-विष उतर गया, अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया और सम्यक्त्व आदि सामायिक धर्म की प्राप्ति हो गई तथा अन्त मे वे स्वर्ग-अपवर्ग की लक्ष्मी के स्वामी बने।

(३) पूर्व-अनुभूत क्रिया—अन्य दर्शन के तपस्वियो आदि को अपनी क्रिया करते-करते पूर्व-जन्म मे अनुभूत सयम आदि की क्रिया के जातिस्मरण ज्ञान के द्वारा स्मरण होने पर सम्यक्त्व, श्रुत और सर्वविरति सामायिक की प्राप्ति होती है—जैसे वल्कलचीरी को उपकरणो की रज झाडते हुए पूर्व जन्म के सयम-जीवन मे की गई प्रतिलेखन क्रिया का स्मरण हुआ और उसे सर्वविरति धर्म की प्राप्ति हुई।

(४) कर्म-क्षय—किसी पुण्यात्मा को तथाविध प्रबल शुभ निमित्त प्राप्त होने पर अनन्तानुबन्धी कषाय का एव मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर सम्यक्त्व आदि सामायिक धर्म की प्राप्ति होती है। इस विषय मे चडकौशिक साप का दृष्टान्त आदर्शस्वरूप है।

एक समय के सुविशुद्ध सयमी महात्मा क्रोधित हाकर कुलपति बनते हैं। वहाँ भी उनकी क्रोधाग्नि अधिक प्रदीप्त होती है, जहाँ से मृत्यु होने के पश्चात्, कषाय के तीव्र परिणाम के कारण वे "चण्डकोशिक" साप बने, जिनकी केवल दाढ ही नही, परन्तु दृष्टि भी हलाहल विष से परिपूर्ण थी—ऐसा भयानक साप ! साप के अवतार मे तो उसके क्रोध की सीमा न रही। केवल मानव ही नही परन्तु पशु, पक्षी आदि जो कोई उसके दृष्टि-पथ मे आता वे सब उसकी विषैली दृष्टि के प्रभाव से जल कर भस्म हो जाते। परिणामस्वरूप सम्पूर्ण वन वीरान हो गया, जिससे मानव आदि कोई भी प्राणी वहाँ आने का साहस नही कर सकता था।

---

१ विभाव = राग-द्वेष, विषय-कषाय आदि भ्रान्त।

करुणानिधान भगवान महावीर उस साप को बोध देने के लिये उसके बिल के समीप आकर कायोत्सर्ग ध्यान मे लीन हो गये। मानव की गन्ध आते ही चण्डकौशिक बिल मे से बाहर आया और उसने भगवान की देह पर विषाक्त दृष्टि डाली, परन्तु उन पर उसका कोई प्रभाव नही होता देखकर क्रोधान्ध साप ने भगवान के चरण मे कातिल डक मारा और उसका परिणाम भी उसके अनुमान से सर्वथा विपरीत हुआ देखकर उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ।

भगवान के चरण से रक्त के बदले दूध की धारा प्रवाहित होती देखकर वह विचार में पड गया, "कौन होगा यह प्रभावशाली महापुरुष ?"

तब परमात्मा ने अपनी मधुर ध्वनि में कहा, "बुज्झ, बुज्झ, चण्डकौशिक !"

प्रभु के इतने शब्दो ने ही उसके मोह का विष उतारने में गारुडिक मन्त्र का कार्य किया। उसके तीव्र रसयुक्त प्रगाढ मोहनीय कर्म की स्थिति का क्षय हुआ और चण्डकौशिक को सम्यक्त्व, श्रुत तथा देशविरति सामायिक का महान लाभ प्राप्त हो गया।

इस प्रकार कर्म-क्षय से सामायिक धर्म की प्राप्ति होती है।

(५) कर्म का उपशम—कोई अनादि मिथ्यादृष्टि आत्मा नदी-घोल-पाषाण की तरह आयुष्य कर्म के अतिरिक्त शेष सातो कर्मों की स्थिति को अत कोडाकोडी सागरोपम की करने के रूप मे "यथाप्रवृत्तिकरण" करे वहाँ उसे सद्गुरु का समागम आदि शुभ निमित्त प्राप्त होने पर वह राग-द्वेष की तीव्र ग्रन्थि को भेद कर अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण की प्रक्रिया में से पार होकर अतरकरण मे प्रविष्ट होता है, जहाँ मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का सर्वथा उपशम हो चुका होता है, अर्थात् मिथ्यात्व का एक भी दलिक वेदना नही पडता। ऐसे अन्तरकरण में प्रविष्ट होते ही सम्यक्त्व सामायिक की प्राप्ति होती है।

शास्त्रो मे कर्म के उपशम से सामायिक धर्म की प्राप्ति के लिये अगर्षि मुनि का दृष्टान्त आता है।

(६) मन, वचन, काया की प्रशस्त प्रवृत्ति—जब हलुकर्मी आत्मा मन, वचन, काया को अशुभ प्रवृत्ति मे से निवृत्त करके शुभ प्रवृत्ति मे प्रवृत्त करती है तब उसके शुभ कर्मों का अनुबन्ध शिथिल हो जाता है और शुभ निमित्तो के समागम से कर्म का क्षयोपशम आदि होने पर सम्यक्त्व

आदि सामायिक की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार से भी सामायिक धर्म की प्राप्ति होती है, जिसके विषय में "आवश्यक सूत्र" मे दृष्टान्त के साथ विचार किया गया है, जिसका सक्षिप्त सार निम्नलिखित है—

(१) अनुकम्पा—जीवों की अनुकम्पा से भी "वैद्य" की तरह शुभ परिणाम आने से सामायिक प्राप्त हो सकती है।

(२) अकाम निर्जरा से भी "मिंढ" की तरह शुभ परिणाम आने से सामायिक प्राप्त हो सकती है।

(३) बाल-तप से भी "इन्द्रनाग" की तरह शुभ परिणाम आने से सामायिक प्राप्त हो सकती है।

(४) यथाशक्ति श्रद्धापूर्वक सुपात्र को दान देने से "कृतपुण्य" की तरह शुभ परिणाम आने से सामायिक प्राप्त हो सकती है।

(५) विनय की आराधना करने वाले 'पुण्यशाल सुत" की तरह शुभ परिणाम आने से सामायिक प्राप्त हो सकती है।

(६) विभगज्ञानी होते हुए भी किसी पुण्यशाली को "शिवराजर्षि" की तरह शुभ परिणाम आने से सामायिक प्राप्त हो सकती है।

(७) अनुभूत द्रव्य-सयोग का वियोग होने पर ससार की नश्वरता का विचार आने से मथुरा नगरी के दो वणिको की तरह भी सामायिक धर्म प्राप्त हो सकता है।

(८) अनुभूत सकट से भी कोई आत्मा सामायिक प्राप्त करती है। जिस प्रकार दो भाइयो द्वारा बैलगाडी के पहियो के नीचे मार डाली गई उल्लुडी (एक प्रकार का साँप) मनुष्य भव मे स्त्री के रूप मे उत्पन्न हुई और क्रमश उसके ही गर्भ से दोनो भाइयो ने पुत्रों के रूप मे जन्म लिया, परन्तु पूर्व वैर के सस्कारो से गर्भपात आदि कराके पुत्रो को मार डालने की इच्छा होती है और उत्पन्न होने के पश्चात् उनकी हत्या करने के लिए दासी को सौपती है। उसके पिता वहाँ उनका पालन-पोषण कराते हैं। भिक्षार्थ आये मुनि को वह वैर का कारण पूछती है। पूर्व-वृत्तान्त सुनकर पिता विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण करता है। दोनो भाई भी पिता के प्रति राग के कारण दीक्षा अगीकार करते हैं। घोर तप, जप, क्रिया आदि करके वे निर्मल सयम का पालन करते हैं और सकल्प करते हैं कि—"यदि इस तप, नियम, संयम का कोई फल प्राप्त होता हो तो आगामी

भव मे हम लोगो के मन और नेत्रो को आनन्द देने वाले बनें।" वहाँ से मृत्यु होने पर दोनो देव हुए, जहाँ से च्यव कर एक वासुदेव (कृष्ण) और दूसरा बलदेव हुआ। इस प्रकार अनुभूत सकट से भी किसी पुण्यात्मा को सामायिक प्राप्त होती है।

(९) अनुभूत उत्सव मे भी किसी विरले को ग्वालिन की तरह सामायिक प्राप्त होती है।

(१०) किसी अन्य श्रेष्ठ ऋद्धि वाले को देखकर भी किसी विरले को दशार्णभद्र की तरह सामायिक प्राप्त होती है।

(११) सत्कार प्राप्त करने की अभिलाषा रखने पर भी जिसका सत्कार नही हुआ ऐसे इलापुत्र की तरह भव वैराग्य होने से कोई सामायिक प्राप्त करता है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न निमित्तो से लघुकर्मी आत्मा को ससार की विचित्रता समझ मे आने पर संवेग, निर्वेग आदि गुण पुष्ट होकर सामायिक धर्म की प्राप्ति होती है।

जिज्ञासुओ को आवश्यकनिर्युक्ति आदि ग्रन्थो से विशेष विवरण गुरुगम से ज्ञात कर लेना चाहिये। इस प्रकार अभ्युत्थान, विनय, पराक्रम और साधु-सेवा से भी सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान, देशविरति अथवा सर्वविरति सामायिक प्राप्त होती है।

साधु भगवन्तो की सम्मानपूर्वक विनय एव सेवा करने से विनीत जानकर वे धर्मोपदेश देने के लिए तत्पर होते हैं और धर्म श्रवण से वैराग्य उत्पन्न होने पर सामायिक प्राप्त होती है तथा क्रोध आदि कषायो पर विजयी होने के लिए पराक्रम करने से भी सामायिक प्राप्त होती है।

६. सामायिक की स्थिति

उत्कृष्ट स्थिति—

(१) सम्यक्त्व एव श्रुत सामायिक की उत्कृष्ट स्थिति पूर्व कोटि पृथक्त्व अधिक छासठ सागरोपम है, जो इस प्रकार है—

कोई जीव क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करके दो बार विजय आदि अनुत्तर विमान मे अथवा तीन बार अच्युत मे जाकर फिर मोक्ष प्राप्ति करता है, उसे यह उत्कृष्ट स्थिति लागू हो सकती है।

(२) देशविरति एव सर्वविरति सामायिक की उत्कृष्ट स्थिति देशोनपूर्वकोटीवर्ष अर्थात् कुछ न्यून एक कोटी पूर्व है। इस स्थिति से अधिक आयु वाले मनुष्य अथवा तिर्यंच दोनो (देशविरति अथवा सर्वविरति) सामायिक प्राप्त नही कर सकते।

जघन्य स्थिति—

(१) सम्यक्त्व, श्रुत एव देशविरति सामायिक की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

(२) सर्व विरति सामायिक की जघन्य स्थिति एक समय की है जो इस प्रकार है—किसी जीव की सर्वविरति प्राप्त होने के पश्चात् ही आयु पूर्ण हो जाये तो समय मात्र स्थिति घट सकती है। उपयोग की अपेक्षा से तो चारो सामायिक की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

उपर्युक्त स्थितिमान लब्धि के अनुसार और एक जीव की अपेक्षा से कहा गया है। अनेक जीवो के आश्रित होकर तो समस्त सामायिक समस्त कालो मे होती हैं। सामायिक का स्थितिमान के द्वारा चिन्तन करने से भी उसकी दुर्लभता का ज्ञान हमे सहज ही मे हो जाता है।

अटवी मे परिभ्रमण करता प्रत्येक जीवात्मा अनन्त पुद्गलपरावर्तन-काल के पश्चात् ही चरमपुद्गलपरावर्तन मे प्रविष्ट होता है और तब उसे चरम-यथाप्रवृत्तिकरण (वैराग्य के तीव्र परिणाम) उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् क्रमश. अपूर्वकरण के द्वारा ग्रन्थि-भेद होने पर सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक की प्राप्ति होती है।

इन दोनो प्राप्त सामायिको की छासठ सागरोपम प्रमाण जो उत्कृष्ट स्थिति ऊपर वताई गई है, वह ससारी जीव को लब्धि (सत्तागत) सामायिक पर निर्भर रहकर जाननी चाहिए। तात्पर्य यह है कि सामायिक अधिक से अधिक छासठ सागरोपम प्रमाणकाल तक ही स्थायी रह सकती है। तत्पश्चात् उक्त सामायिक अथवा तो मोक्ष प्रदान कराती है अथवा उसका पतन हो जाता है।

उपयोग की अपेक्षा से प्रत्येक सामायिक की अन्तर्मुहूर्त से अधिक स्थिति नही है और कम से कम स्थिति-मर्यादा आद्य तीन सामायिको की अन्तर्मुहूर्त की एवं सर्वविरति की एक समय की ही वताई है।

इन समस्त वातो का विचार करने पर समझ मे आयेगा कि विशुद्ध श्रद्धा एव समता का परिणाम प्राप्त होना कितना दुर्लभ है और प्राप्त परिणाम स्थायी रखना कितना कठिन है ? अनन्त काल से लिपटी हुई यह राग-द्वेषरूप विभाव-दशा आत्मा की कैसी भयानक दुर्दशा करती है, कैसी विकटता करती है उसकी कथा तो अत्यन्त ही दयनीय एव करुणापूर्ण है।

विभाव-दशा की कालिमा-युक्त अंधेरी रात मे उलझा हुआ जीवात्मा अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का भान भूलकर पर-पुद्गल पदार्थों एव उनके सयोगो मे 'अह" एव "मैं पन" लाकर अपने हाथो अपने प्रयत्न से हो वह परेशान हो रहा है।

अरे ! अन्तर् के कक्ष में दवा हुआ सुख, शान्ति एव गुण सम्पत्ति का अपार भण्डार लुटा रहा है। इस पराधीन वनी पामर आत्मा को कौन समझाये कि—

तू अनन्त सुख-शक्ति का मुकुट-विहीन सम्राट है, और तेरा मान्य किया हुआ यह वाह्य ससार तुझे सुख-शान्ति प्रदान करने के लिए सर्वथा विवश है, असफल है।

सुख, शान्ति एव आनन्द का अक्षयनिधि आत्मा के भीतर मे ही अप्रकट रूप से विद्यमान है, जिसे प्रकट करने वाला केवल सामायिक धर्म ही है।

उक्त धर्म को सम्पूर्ण आराधना करके उसके वास्तविक फल का पूर्ण अधिकार प्राप्त करने वाला मानव ही है। मानव-जीवन का विशिष्ट महत्व अथवा मूल्याकन आध्यात्मिकता के कारण ही है। ससार की

विलक्षण वाह्य सिद्धि-समृद्धि का स्वामी भी सामायिक आदि धर्म के बिना दरिद्र नारायण है।

सम्राट श्रेणिक पुनिया श्रावक की सामायिक क्रय करने के लिए अपनी सम्पूर्ण राज्य लक्ष्मी दाव पर लगाने के लिये तत्पर हो गये थे, परन्तु उस पुनिया के मन में सामायिक का मूल्य अपार था।

वाह्य सत्ता अथवा सम्पत्ति के लिये सामायिक का विक्रय असम्भव है, सर्वथा असम्भव है। सामायिक आन्तरिक जगत की अमूल्य सम्पत्ति है, जिसकी तुलना में तीनों लोको की समृद्धि तुच्छ है।

मानव होकर जो सामायिक से वचित रह जाता है वह जन्म-जन्म की सचित पुण्य निधि को नष्ट करके भव-सागर की दुःखपूर्ण दीर्घ यात्रा करने वाला एक पुण्यहीन पथिक बन जाता है।

७. सामायिकी व्यक्ति की संख्या आदि द्वार

सम्यक्त्व आदि सामायिक को प्राप्त करने वाले[1] प्राप्त किये हुए, प्राप्त करके पतित बने व्यक्ति विवक्षित समय मे कितने होते हैं ? इस बात का निर्देश इस विभाग मे किया जा रहा है ।

प्रश्न (१) प्रतिपत्ता—सामायिक प्राप्त करने वाले जीव विवक्षित समय मे कितने होते हैं ?

उत्तर सम्यक्त्व एव देशविरति वाले जीव "क्षेत्रपल्योपम के असंख्य भाग प्रमाण" होते हैं, अर्थात् क्षेत्रपल्योपम के असख्यातवे भाग मे जितने आकाश प्रदेश होते हैं उतनी ही सख्या मे उत्कृष्ट से सम्यक्त्व एव देशविरति को प्राप्त करने वाले जीव एक समय मे होते हैं । विशेषता यह है देशविरति की अपेक्षा सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले असख्य गुने अधिक होते है । जघन्य से एक अथवा दो होते हैं । श्रुत (सामान्य अक्षरात्मक) को प्राप्त करने वाले जीव घनीकृत लोक की—समचतुरस्र किये गये लोक की—एक प्रदेशी सप्तराज प्रमाण श्रेणी के असख्यातवे भाग मे जितने प्रदेश होते है उतने प्रमाण मे उत्कृष्ट से होते हैं । जघन्य से एक अथवा दो होते हैं । सर्वविरति सामायिक को प्राप्त करने वाले जीव उत्कृष्ट से सहस्रपृथक्त्व (दो से नौ हजार) होते हैं । जघन्य से एक अथवा दो होते हैं ।

प्रश्न (२) पूर्वप्रतिपन्न—सामायिक प्राप्त किये हुए—जीव विवक्षित समय पर कितने होते हैं ?

उत्तर—सम्यक्त्व एव देशविरति प्राप्त जीव वर्तमान समय मे उत्कृष्ट से और जघन्य से असख्य होते हैं, परन्तु जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट मे विशेषाधिक एव प्रतिपद्यमान की अपेक्षा असख्य गुने होते हैं । सर्वविरति चारित्र को प्राप्त, वर्तमान समय मे जघन्य से और उत्कृष्ट से सख्याता होते

---

१ निम्न शब्दो के अर्थ समझ लेने से पठन मे सरलता होगी—

"प्रतिपत्ता"—प्राप्त करने वाला, "प्रतिपन्न"—प्राप्त किया हुआ, "पतित"—प्राप्त करके पीछे हटे हुए ।

हैं (और इस स्व-स्थान मे प्रतिपद्यमान की अपेक्षा सख्यात गुने होते हैं)। श्रुत (सामान्य अक्षरात्मक) के पूर्वप्रतिपन्न जीव वर्तमान समय मे—असख्याता प्रतर के असख्य भाग मे स्थित असख्य श्रेणियो मे जितने प्रदेश होते हैं उतने प्रमाण वाले होते हैं। जघन्य से उत्कृष्ट असख्य गुने होते है।

प्रश्न (३) पूर्व पतित—सामायिक प्राप्त करके पतित हो चुके—विवक्षित समय मे कितने होते हैं ?

उत्तर—सम्यक्त्व, देशविरति एव सर्वविरति की अपेक्षा उन गुणों को प्राप्त करके पतित हुए जीव अनन्त गुने होते है। श्रुत (सामान्य अक्षरात्मक) को प्राप्त एव प्राप्त करने वालो की अपेक्षा शेष समस्त ससारी जीव सामान्य श्रुत से प्रतिपतित कहलाते हैं, क्योकि इन प्रतिपतित जीवों ने अनादिकालीन इस ससार मे परिभ्रमण करने से पूर्व अनेक वार भाषा-लब्धि को प्राप्त की हुई होती है।

तीनो प्रकार के सामायिक वाले जीवो का अल्प-आधिक्य—

सर्वविरति सामायिक को प्राप्त करने वाले सबसे कम होते हैं। इनकी अपेक्षा सर्वविरति प्राप्त किये हुए संख्यात गुने होते हैं।

देशविरति सामायिक को प्राप्त करने वाले जीव सर्वविरति प्राप्त करने वालो की अपेक्षा असख्य गुने होते हैं और उनकी अपेक्षा देशविरति को प्राप्त किये हुए असख्य गुने होते हैं।

सम्यक्त्व सामायिक को प्राप्त करने वाले जीव देशविरति को प्राप्त करने वालो की अपेक्षा असंख्य गुने होते हैं। इनकी अपेक्षा सम्यक्त्व को प्राप्त किये हुए जीव असख्य गुने होते हैं।

सामान्य श्रुत को प्राप्त करने वाले जीव सम्यक्त्व, देशविरति इन दोनो के प्रतिपद्यमान की अपेक्षा असख्य गुने होते हैं और इनकी अपेक्षा सामान्य श्रुत को प्राप्त किये हुए जीव असख्य गुने होते हैं।

सामायिकी जीवो की जघन्य-उत्कृष्ट सख्या की विशेषता—

ये पतित जीव स्व-स्थान मे जघन्य पद से उत्कृष्ट पद मे विशेष अधिक सख्या मे होते हैं। पूर्वप्रतिपन्न मे स्व-स्थान मे जघन्य पद से उत्कृष्ट पद में विशेष अधिक सख्या में होते हैं। प्रतिपद्यमान मे आद्य तीन सामायिक स्व-स्थान मे जघन्य से उत्कृष्ट पद मे असंख्य गुनी होती हैं और सर्वविरति सामायिक स्वस्थान मे जघन्य से उत्कृष्ट पद मे सख्यात गुनी होती हैं। प्रस्तुत द्वार मे सामायिक को प्राप्त करने वालो, प्राप्त किये हुओं और

प्राप्त करके पतित हुए जीवो की विपुल संख्या का निर्देश करके शास्त्रकार महर्षि हमें गर्भित रूप से बता रहे है कि यह सामायिक जितनी व्यापक है, उतनी ही यह दुष्प्राप्य भी है और प्राप्त की हुई सामायिक को निरन्तर स्थायी रखना तो अत्यन्त ही दुष्कर कार्य है। सामायिक को प्राप्त करने वाले और प्राप्त किये हुए जीवो की अपेक्षा सामायिक से पतित हो चुके जीवो की अनन्त सख्या ही इस बात को सिद्ध करती है।

समस्त सामायिको मे सर्वविरति सामायिक विशुद्धतर है। आत्म-समाधि-स्वरूप इस सामायिक को गहण करने वाले जीवो की सख्या अत्यन्त ही अल्प है। सर्वस्व त्याग स्वरूप प्रव्रज्या के पुनीत पथ पर प्रयाण करके पूर्ण आत्म-समाधि का अनुभव करने का भव्यातिभव्य पुरुषार्थ केवल मानव ही कर सकता है। मनुष्य सदा सख्याता ही होते हैं, उनमें भी "चारित्र-रत्न" प्राप्त करने का परम सौभाग्य किसी विरले पुण्यात्मा के ही भाग्य मे लिखा होता है। समस्त सावद्य-पाप व्यापारो का सर्वथा त्याग करने वाले, जीवमात्र को आत्मवत् देखने वाले और परम समता रस के सुधा-पान मे ही सदा मग्न रहने वाले महापुरुष ही अपने जीवन मे पूर्ण चारित्र धर्म का साक्षात्कार करके अनेक व्यक्तियो के आदर्श बनते है।

देशविरति सामायिक की प्राप्ति तिर्यंच भव मे भी होती होने से उसे प्राप्त करने वाले जीव असख्य होते हैं और सम्यक्त्व एव श्रुत सामायिक को चारों गतियो के जीव प्राप्त कर सकते हैं। इस कारण इसके अधिकारी जीव सबकी अपेक्षा विशेष सख्या मे होते हैं।

अक्षरात्मक सामान्य श्रुत दोइन्द्रिय आदि मिथ्यादृष्टि जीवो मे भी होते हैं। उसकी चेतना शक्ति सर्वथा अविकसित स्वरूप मे है, फिर भी परम ज्ञानी महापुरुषो ने उन्हे भी सामायिक के विशाल दृष्टि-बिन्दु मे समाविष्ट कर लिया है। इसके पीछे भी कुछ रहस्य छिपा हुआ है।

भाषा-लब्धि एव अक्षरात्मक श्रुत के बिना एक भी सामायिक को प्रकट करना सम्भव नही है। यह रहस्य उपर्युक्त बात से ज्ञात किया जा सकता हैं।

अनादि निगोद अवस्था मे से बाहर निकले जीवो को दोइन्द्रियत्व मे भाषालब्धि और अक्षरात्मक श्रुत को सर्वप्रथम प्राप्ति होती है। तत्पश्चात् क्रमश उनका विकास होते-होते जब सज्ञी पचेन्द्रियत्व प्राप्त होता है तब उक्त अक्षरात्मक श्रुत ही किसी भव्यात्मा के लिये भाव-श्रुत की प्राप्ति का प्रेरक निमित्त बन जाता है।

इस विशाल दृष्टि से ही ज्ञानी भगवन्तो ने पूर्व प्राप्त सामान्य श्रुत की विवक्षा करके अक्षरात्मक-श्रुत को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया प्रतीत होता है।

एक-एक से विशिष्ट, विशिष्टतर समाधिस्वरूप इन चारो सामायिको को प्राप्त कर चुके व्यक्ति भी बहुत अधिक सख्या मे कर्म की प्रबलता आदि के कारण समाधि के उच्च शिखर से गिरकर असमाधि की गहरी खाई मे जा गिरते हैं। सामायिक प्राप्त करने वालो और प्राप्त कर चुके व्यक्तियो से सामायिक के भ्रष्ट व्यक्तियो की सख्या अधिक क्यो है ? यह प्रश्न ही सहज समताभाव की दुर्लभता एव दुष्प्राप्यता को तथा विभाव-जनित ममता-भाव की दुष्टता एवं दारुणता को स्पष्ट कर देता है।

कितनी दुर्लभ है आत्मसमाधिस्वरूप सामायिक धर्म की प्राप्ति ? और कितनी दु साध्य है प्राप्त सामायिक की स्थिरता एव वृद्धि ? जीवन के अन्तिम क्षण तक निरन्तर चलता चारित्रधर्म का सुविशुद्ध भाव जन्मान्तर मे साथ नही आ सकता। अप्रमत्त मुनि को भी अन्य भव मे जाने के समय चारित्रधर्म का वियोग अवश्यमेव सहना पडता है।

सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक की भी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक छासठ सागरोपम की है। इस समय के अन्तर्गत यदि आत्मा की मुक्ति नही हुई तो उक्त सामायिक भाव भी समाप्त हो जाता है। सामान्य श्रुत की भी अधिक से अधिक स्थिति दो हजार सागरोपम की है। तत्पश्चात् वह भी अवश्य ही समाप्त हो जाती है।

इन सब असख्य एव अनन्त सामायिक से परिभ्रष्ट हुए जीवों का निवास और उत्कृष्ट अर्द्धपुद्गल परावर्तन जितने दीर्घकाल का निर्गमन प्राय निगोद अवस्था मे होता है। इसके अतिरिक्त इन सख्यातीत जीवो का निवास अन्य किसी "काया" मे होना सम्भव नही है।

कर्म को अकल गति, स्थिति एवं मति का यह प्रत्यक्ष चित्रण सुनकर जिस मुमुक्षु की आत्मा चीत्कार कर उठती है वह तो पल भर भी प्रमाद किये बिना निरन्तर सावधानी एव जागृति से सम्पूर्ण सामायिक भाव को यथावत् रखने के लिये पुरुषार्थ करती रहती है।

सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा की सहज अवस्था प्राप्त नही हो तब तक सामायिक धर्म की वसमी विरह-वेदना के शिकार न हो जायें उसी चरम एव परम लक्ष्य को दृष्टिगत रखकर मुमुक्षु साधक आत्म-साधना के पथ पर एक ही सास में तनिक न रुककर अग्रसर होता ही रहता है।

सामायिक के भ्रष्ट जीव पुनः कितने समय मे सामायिक प्राप्त कर सकते हैं ? आदि बातो पर आगामी द्वारो मे प्रकाश डाला जायेगा।

सान्तर द्वार—जीव एक बार सम्यक्त्व आदि प्राप्त करके उसमे च्युत होने पर पुन जितने समय में सम्यक्त्व आदि प्राप्त करता है, उस मध्य काल को "अन्तर" कहते हैं। सामान्य अक्षरात्मक मिथ्याश्रुत का जघन्य से अन्तर्मुहूर्त का एव उत्कृष्ट से अनन्त काल का "अन्तर" होता है।

जो दोइन्द्रिय आदि जीव श्रुत (अक्षरात्मक) प्राप्त करके मृत्यु के पश्चात् पृथ्वी आदि में उत्पन्न होकर केवल अन्तर्मुहूर्त काल तक रहकर पुन दोइन्द्रियो मे आये और श्रुत को प्राप्त करे उस पर यह जघन्य अन्तर लागू होता है।

उत्कृष्ट अन्तर—कुछ दोइन्द्रिय जीव मृत्यु के पश्चात् पांचो स्थावर मे पुन पुन. जन्म-मरण करते रहे तो उन्हे अनन्त काल के पश्चात् दोइन्द्रिय आदि मे उत्पन्न होने पर पुन श्रुत की प्राप्ति होती है।

शेष सम्यक्त्व, देशविरति एव सर्वविरति सामायिक मे जघन्य से अन्तर्मुहूर्त एव उत्कृष्ट से देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल "अन्तर" होता है।

यह "अन्तर" मर्यादा एक जीव की अपेक्षा से समझनी चाहिए। समस्त जीवो के अनुसार तो "अन्तर" है ही नही।

जो व्यक्ति सम्यक्त्व आदि प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् तथाविध विशुद्ध परिणाम से पतित होकर पुनः अन्तर्मुहूर्त मे ही उस प्रकार का परिणाम प्राप्त कर लें उन पर यह जघन्य अन्तर घटित हो सकता है।

कोई बहुलकर्मी जीव सम्यक्त्व आदि प्राप्त करके भी तीर्थंकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य अथवा गणधर आदि महापुरुषो की घोर आशातना करके सम्यक्त्व आदि से भ्रष्ट होता है और अधिकतर भव-भ्रमण करके अपार्धपुद्गलपरावर्तन काल के पश्चात पुन सम्यक्त्व आदि प्राप्त करता है। ऐसे जीवो की अपेक्षा से यह उत्कृष्ट अन्तर घटित किया जा सकता है।

अविरह द्वार—समस्त लोक मे सामायिक की निरन्तर प्राप्ति कितने समय तक हो सकती है—यह बात प्रस्तुत द्वार मे बताई जाती है।

सम्यक्त्व, श्रुत और देशविरति सामायिक को प्राप्त करने वाले उत्कृष्ट से आवलिका के असख्य भाग-प्रमाण समय तक सतत होते हैं। तत्पश्चात् अवश्य विरह (अन्तर) होता है।

सर्वविरति सामायिक की प्रतिपत्ति (प्राप्ति) आठ समय तक निरन्तर हो सकती है। तत्पश्चात सर्वत्र विरह होता है।

विरह-काल—समस्त लोक में कोई भी जीव नवीन सामायिक कितने समय तक प्राप्त नही करता, वही यहाँ स्पष्ट किया गया है।

सम्यक्त्व, श्रुत सामायिक का उत्कृष्ट विरह-काल सात अहोरात्रि है, तत्पश्चात् कोई जीव अवश्य सामायिक प्राप्त करता है।

देशविरति सामायिक का उत्कृष्ट विरह काल बारह अहोरात्रि है, तत्पश्चात् कोई जीव अवश्य सामायिक प्राप्त करता है। सर्वविरति सामायिक का उत्कृष्ट विरह काल पन्द्रह अहोरात्र है, तत्पश्चात् कोई जीव अवश्य सामायिक प्राप्त करता है।

भव द्वार—इस द्वार मे कितने भव तक सामायिक प्राप्त हो सकती है—यह बताया जाता है।

सम्यक्त्व एवं देशविरति सामायिक को एक जीव समस्त भव-चक्र में उत्कृष्ट से असख्य भव (अर्थात् क्षेत्रपल्योपम के असख्यातवे भाग मे जितने प्रदेश हो उतने भव) तक प्राप्त कर सकता है और जघन्य से एक भव के पश्चात् मोक्ष होता है।

सर्वविरति सामायिक को उत्कृष्ट से आठ भव तक प्राप्त करता है और जघन्य से एक भव पश्चात् मुक्ति।

सामान्य श्रुत को अनन्त भवो तक प्राप्त कर सकता है। जघन्य से मरुदेवी माता की तरह एक भव के पश्चात् मुक्ति।

आकर्ष द्वार—आकर्ष अर्थात् सम्यक्त्व आदि सामायिक को सर्वप्रथम आकर्षित करना, अर्थात् प्राप्त करना, अथवा चली गई सम्यक्त्व आदि सामायिक को पुन ग्रहण करना—प्राप्त करना।

(१) प्रथम तीन सामायिको का आकर्ष एक भव मे दो से नौ सौ बार हो सकता है।

यह उत्कृष्ट की बात हुई। जघन्य से प्रत्येक सामायिक का एक ही आकर्ष होता है। छोटे-छोटे भवो की अपेक्षा से तो सम्यक्त्व और देशविरति सामायिक मे आकर्ष उत्कृष्ट से दो से नौ हजार असख्याता बार होता है। चारित्र का आकर्ष उत्कृष्ट से दो से नौ हजार बार, सामान्य श्रुत के अनन्त "आकर्ष" होते हैं।

आकर्ष द्वार पर विवेचन—

आकर्ष की दोनो व्याख्याओ की अनुप्रेक्षा करते हुए समझा जा सकता है कि "आकर्ष" आत्मा की एक महान् निर्मल ध्यान-शक्ति का सूचक शब्द है। जिस शक्ति के प्रभाव से आत्मा सर्वप्रथम "सम्यक्त्व" प्राप्त करती है, उस ध्यानस्वरूप "अपूर्वकरण" आदि प्रक्रिया का वर्णन पहले हो चुका है। उसके द्वारा स्पष्ट समझा जा सकता है कि जो जीव क्षायिक भाव का सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं, उन्हे यदि दो भव करने शेष हो तो भी पुनः सम्यक्त्व के लिये एक भी "आकर्ष" करना नही पडता। चारित्र के लिये तो "आकर्ष" करने पडते हैं, परन्तु जो जीव क्षायोपशमिक अथवा उपशम भाव का सम्यक्त्व प्राप्त करते है, वे जीव एक भव मे जघन्य से एक वार और उत्कृष्ट से चारित्र के लिये एक सौ से नौ सौ वार और शेष तीन सामायिको के लिये दो से नौ हजार बार "आकर्ष" कर सकते है, प्राप्त किया हुआ चारित्र अथवा सम्यक्त्व किसी अशुभ निमित्त के कारण चारित्र-मोह अथवा मिथ्यात्वमोहनीय आदि का उदय होने पर पुन चला जाता है, परन्तु लघुकर्मी जीव शुभ आलम्बन प्राप्त होने पर शुभ ध्यानारूढ होकर पुन उस सम्यक्त्व अथवा चारित्र गुण को आकर्षित (प्राप्त) करता है।

जिस प्रकार हाथ मे से कोई कॉच आदि की वहुमूल्य वस्तु गिर पडती है, तव उसका महत्व समझने वाला व्यक्ति उस वस्तु के नीचे गिरकर टूट-फूट जाने से पूर्व अत्यन्त शीघ्रता से नीचे झुककर उस वस्तु को शीघ्र पकडने की चेष्टा करता है, उसी प्रकार से प्रवल मोह आदि के उदय से आत्म-सम्पत्ति रूप सामायिक (रत्न) लुट जाने पर उसके महान् फल के स्वाद को नही भूल सकने वाली आत्मा सद्गुरु के उपदेश आदि के आलम्बन से ध्यान आदि मे प्रवल पुरुषार्थ करके लुटी हुई गुण-सम्पत्ति को तत्काल पुन प्राप्त करती है।

इस प्रकार 'आकर्ष' सम्यक्त्व गुण को आकर्षित करने के अर्थात् अव तक अनुपलब्ध निश्चयसम्यक्त्व गुण को प्राप्त करने के लिये जीव को प्रोत्साहित करता है, अथवा प्राप्त होने के पश्चात् गये हुए सम्यक्त्व को पुन प्राप्त करने के लिये तद्योग्य साधना प्रबल पुरुषार्थ करने के लिये प्रेरित करता है।

जिस प्रकार स्वार्थी मनुष्य अन्य मनुष्यो को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार से मुमुक्षु व्यक्ति को अपनी ज्ञान-ध्यानस्वरूप आन्तरिक साधना को ऐसी आकर्षक अर्थात् विशुद्ध बनानी चाहिए कि जिससे सम्यक्त्व आदि गुण स्वय आकर्षित होकर चले आयें।

स्पर्शना द्वार – इसमे बताया गया है कि सामायिक-वान् जीव कितने क्षेत्र का स्पर्श कर सकते हैं। सम्यक्त्व और चारित्रवान् जीव उत्कृष्ट से समग्र लोक का स्पर्श करते हैं, जघन्य से लोक के असख्यातवे भाग का स्पर्श करते हैं।

उपर्युक्त उत्कृष्ट स्पर्शना 'केवली समुद्घात" के समय होती है। आठ समय की समुद्घात की प्रक्रिया में चौथे समय केवली भगवान आकाश के प्रत्येक प्रदेश मे आत्मा का एक एक प्रदेश जमाकर सर्वलोकव्यापी बनते है, उस अपेक्षा से यह बात कही गई है।

श्रुत सामायिक की स्पर्शना उत्कृष्ट से सात राज अथवा पाँच राज और जघन्य से लोक का असख्यातवाँ भाग है। देशविरति सामायिक की स्पर्शना उत्कृष्ट से प'च राज अथवा दो राज और जघन्य से लोक का असख्यातवाँ भाग है जैसे—

कोई श्रुत ज्ञानी तपस्वी मुनि इलिका गति से अनुत्तर विमान मे उत्पन्न हो रहे हो तब वे यहाँ से सात राज तक ऊर्ध्व लोक की स्पर्शना करते हैं।

कोई देशविरति इलिका गति से अच्युत देवलोक मे उत्पन्न हो तो पांच राज, अथवा दो राज तक ऊर्ध्वलोक की स्पर्शना करते हैं।

देशविरति जीव अधोलोक मे नही जाते।

क्षेत्र से सम्बन्धित स्पर्शना समाप्त हो गई। अब भाव से सम्बन्धित स्पर्शना का वर्णन करते हैं।

भाव-स्पर्शना—सामान्य श्रुत की स्पर्शना समस्त संव्यवहार राशि वाले जीवो द्वारा की गई है।

सम्यक्त्व एवं चारित्र की स्पर्शना समस्त सिद्धो के जीवो ने की हुई है।

देशविरति सामायिक की स्पर्शना सिद्ध होने से पूर्व समस्त सिद्धो के असख्यातवे भाग प्रमाण जीवो ने की हुई है।

विवेचन—ससारी एवं सिद्ध दो भेदो मे समस्त जीवो का समावेश हो जाता है। संसार के जीव "संसारी" और सिद्धशिला पर विराजमान जीव "सिद्ध" कहलाते हैं। सिद्ध जीवो मे किसी भी प्रकार की भिन्नता नही होती, जबकि ससारी जीवो मे अनेक भेद-उपभेद होते है, जैसे—

(१) सव्यवहार राशि वाले और (२) असव्यवहार राशि वाले। ये

दो भेद ससारस्थ जीवो के हैं। अनादि निगोद मे से कदापि बाहर नही आये हुए जीव "असव्यवहार राशि वाले" कहलाते हैं और जो जीव निगोद से बाहर निकलकर व्यवहार—पृथ्वी, जल आदि अथवा दोइन्द्रिय आदि भाव को पाये हुए हैं वे "सव्यवहारराशि वाले" कहलाते हैं। ये राशि वाले समस्त जीव अक्षरात्मक सामान्य श्रुत को स्पर्श किये हुए होते हैं। दो इन्द्रियत्व आदि मे सामान्य श्रुत का सद्भाव होता है।

सिद्ध भाव प्राप्त किये हुए समस्त जीव सम्यक्त्व एव चारित्र को स्पर्श किये हुए होते हैं। उसके बिना सिद्धत्व प्रकट ही नही होता।

अनेक जीव देशविरति सामायिक प्राप्त किये बिना भी मरुदेवी माता की तरह सीधे ही मोक्ष मे जाते हैं, जिससे समस्त सिद्धो के एक असख्यातवे भाग जितने जीवो ने उसका स्पर्श नही किया। समस्त शेष सिद्ध जीव देशविरति को स्पर्श करके मोक्ष गये हैं। सम्यक्त्व आदि सामायिक जीव के पर्याय होने से भाव है, इस कारण उसकी स्पर्शना "भाव-स्पर्शना" कहलाती है।

इस स्पर्शना द्वार मे बताई हुई बातो पर सूक्ष्म चिन्तन करने से साधक को साधना मे उपयोगी सुन्दर चिन्तन सामग्री प्राप्त हो सकती है।

क्षेत्र स्पर्शना मे बताई गई केवली समुद्घात की प्रक्रिया का प्रयोग भूतकाल में अनन्त सिद्ध परमात्माओ ने सिद्ध होने से पूर्व अपने जीवन के उत्तर काल मे किया है। उनके पवित्र आत्म-क्षेत्र मे रहकर मैं उन सिद्ध परमात्मा के ध्यान से अपनी अन्तरात्मा को पवित्र कर रहा हूँ, तथा वर्तमान काल मे महाविदेह क्षेत्र मे विद्यमान केवली-भगवान् सिद्ध अवस्था प्राप्त करने मे पूर्व इस समुद्घात की प्रक्रिया के द्वारा जब अपने निर्मल आत्म प्रदेशो को विश्वव्यापी बना रहे होगे, तब उन पवित्रतम आत्म-प्रदेशो का पुनीत स्पर्श मेरी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश से भी अवश्य होता ही होगा।

पवित्रतापूर्ण पुद्गलो की स्पर्शना का वह पल-विपल कितना अद्भुत एव धन्यतम होगा।

क्षेत्र-स्पर्शना का प्रभाव इस कलियुग मे भी प्रत्यक्ष रूप से देखने-जानने को मिलता है। "काकरे काकरे सिद्ध अनन्ता" आदि विशेषताओ के कारण जिस तीर्थ की अन्य समस्त तीर्थों की अपेक्षा अधिक महिमा शास्त्रो मे गाई गई है, उस सिद्धगिरि की यात्रा करते हुए अनेक भाविक यात्री भूतकालीन अनन्त सिद्धात्माओ के पुण्य स्पर्श से पवित्र बने इस तीर्थ

के एक-एक रजकण से पवित्रता की प्रेरणा प्राप्त करके अपनी आत्मा को कृतकृत्य करते हैं, अपूर्व भावोल्लासपूर्ण हृदय से यात्रा, पूजा, भक्ति करके अपना जीवन धन्य करते हैं।

इसी प्रकार से "भाव स्पर्शना" के सम्बन्ध मे विचार करने से सुविशुद्ध भाव जागृत करने की अपूर्व प्रेरणा प्राप्त की जा सकती है, जैसे—

मैं जिस अक्षरात्मक श्रुत का अध्ययन, मनन, चिन्तन करता हूँ, उस "श्रुत" का मेरे अनन्त आत्म-वन्धु स्पर्श कर चुके हैं तथा जिस सम्यक्त्व, देशविरति और सामायिक धर्म की आराधनार्थ मैं उत्कठित हुआ हूँ, उस सामायिक धर्म की आराधना तो अनन्त सिद्ध भगवानो ने अपने पूर्व-जीवनो मे अनेक बार की है। इतना ही नही, परन्तु अनन्त आत्माओ को सिद्धि का सनातन सुख प्रदान करने वाला यह सामायिक धर्म ही है।

भूतकाल मे, वर्तमानकाल मे और भविष्यत्काल मे जो आत्मा पंचपरमेष्ठी पद पर आसीन हुए हैं, हो रहे हैं और होने वाले हैं, वह सब प्रभाव-प्रताप इस सामायिक धर्म का ही है।

ऐसे महान प्रभावशाली, सर्व सिद्धिदायक सामायिक धर्म की मगल आराधना करने के लिए यह कैसा उत्तम अवसर प्राप्त हुआ है।

अनन्त सिद्ध आत्माओ द्वारा स्पर्श किये गये इस सामायिक धर्म की आराधना करके उसे मैं अपनी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में इतना आत्मसात् कर लूँ कि जिससे मेरी आत्मा भी परम पवित्र, प्रसन्नचित्त एव प्रशान्त बनी रहे। ऐसी-ऐसी उत्तम प्रकार की भावनाओ के द्वारा साधक अपनी साधना को प्राणवान बनाकर उसमें अधिकाधिक स्थिरता एव तन्मयता प्राप्त कर सकता है।

८. निरुक्ति द्वार

क्रिया, कारक के भेद से और पर्याय से शब्दार्थ का कथन "निरुक्ति" कहलाता है। यहाँ चारो प्रकार के "सामायिक" के पर्यायवाची नाम दिये गये हैं, जिसके अर्थ ज्ञात होने से "सामायिक" का विशेष महत्व सरलता से समझा जा सकेगा।

(१) सम्यक्त्व सामायिक के नाम—

सम्यग्दृष्टि, अमोह, शुद्धि, सद्भाव-दर्शन, बोधि, अविपर्यय, सुदृष्टि आदि।

(१) सम्यग्दृष्टि—अविपरीत दर्शन, आत्मा को चेतन स्वरूप मे और जड को अचेतन स्वरूप मे देखना-जानना।

(२) अमोह—मोह वितथाग्रह, जिसमे असत्य का आग्रह न हो वह अमोह है।

(३) शुद्धि—मिथ्यात्व रूपी मैल का नाश होने पर प्रकट होती शुद्धि।

(४) सद्भाव दर्शन—सर्वज्ञ कथित पदार्थों का ज्ञान।

(५) बोधि—परमार्थ-बोध।

(६) अविपर्यय—अतत्व मे तत्वबुद्धि विपर्यय है, इसका अभाव वह अविपर्यय अर्थात् तत्व अध्यवसाय।

(७) सुदृष्टि—शुभ दृष्टि।

विशेष—सम्यगृदृष्टि वाली आत्मा जो कुछ देखे अथवा जाने, उसमे तनिक भी विपरीतता नही होती। आत्मा समस्त पदार्थों को सत्य स्वरूप में ही देखती है, जिससे देह आदि भौतिक पदार्थों मे उसे कदापि "अहं' अथवा "मैं पन" की भावना नही होती। अपनी बात का अथवा अपने विचारो का उसे असद् आग्रह नही होता। मोह की मलिनता दूर हो जाने से उसका अन्तःकरण स्फटिक के समान स्वच्छ होता है। उसकी आत्म-शुद्धि भी क्रमश. विकसित होती जाती है, जिससे जिनागम के सूक्ष्म रहस्यो का

बोध और अनुभव स्पष्ट होता जाता है, केवली भगवान के वचनो के प्रति श्रद्धा सुदृढ होती जाती है, आत्मा और परमात्मा के मध्य भेद-अभेद का स्याद्वाद दृष्टि से बोध होता है और आत्म-तत्त्व का विशुद्ध अनुभव प्रकट होता जाता है। तत्त्वानुभूति होने पर विपर्यास-बुद्धि का चिन्ह तक नहीं रहता, जिससे अतत्त्व मे तत्त्वबुद्धि अथवा तत्त्व मे अतत्त्वबुद्धि उत्पन्न होती है और जिसकी बुद्धि अविपरीत होती है उसकी दृष्टि शुभ (सत्) होती है उसकी विचारधारा भी शुभ होती है।

(२) श्रुत सामायिक के पर्यायवाची नाम –

अक्षर, अनक्षर, संज्ञी, असज्ञी, सम्यग्, मिथ्या, सादि, अनादि, सपर्यवसित, अपर्यवसित, गमिक, अगमिक, अग प्रविष्ट, अनंग-प्रविष्ट। इस प्रकार श्रुत ज्ञान के १४ भेदो का पर्यायवाची नामो के रूप मे उल्लेख किया गया है। इनके अर्थ "कर्मग्रन्थ" आदि ग्रन्थो से ज्ञात कर ले।

(३) देशविरति सामायिक की निरुक्ति—

विरताविरति, संवृतासंवृत, बाल-पण्डित, देशैकदेशविरति, अणुधर्म और आगारधर्म—ये समस्त देशविरति के पर्यायवाची शब्द हैं।

(१) विरताविरति– जिस निवृत्ति में अमुक पाप की विरति और अमुक पाप की अविरति होती है वह।

(२) संवृतासवृत—जिस सामायिक मे कुछ सावद्य योगो का त्याग और कुछ का त्याग नही होता वह।

(३) बाल-पण्डित—विरति एवं अविरति रूप उभय व्यवहार का अनुकरण करने वाला होने से वह "बाल-पण्डित" कहलाता है।

(४) देश-एकदेशविरति – देश - स्थूल प्राणातिपात आदि। एकदेश—वृक्ष छेदन आदि, उन दोनो की विरति जो नियम में हो वह।

(५) अणुधर्म—सम्पूर्ण साधु धर्म की अपेक्षा से धर्मन्यून (अल्प) प्रमाण में धर्म होने से "अणुधर्म" कहलाता है।

सम्यक्त्व सामायिक में जिनोक्त धर्म के प्रति प्रबल श्रद्धा मात्र थी। यहाँ धर्म का आंशिक आचरण भी है। श्रद्धा के साथ आचरण के मिश्रण से यहाँ पूर्व की समता की अपेक्षा विशेष प्रकार की समता होती है। उक्त समता के प्रकर्ष की उत्तरोत्तर वृद्धि होने पर सर्वविरति सामायिक भाव प्रकट होता है।

(४) सर्वविरति सामायिक के पर्यायवाची नाम—

सामायिक, सामयिक, सम्यग्वाद, समास, सक्षेप, अनवद्य, परिज्ञा और प्रत्याख्यान—ये "सर्वविरति" के समानार्थक नाम हैं।

(१) सामायिक—सम—रागद्वेषरहित होने से मध्यस्थ, सम की प्राप्ति वह समाय; वही सामायिक है। अर्थात् राग-द्वेषरहित अवस्था—समता, मध्यस्थ भाव अथवा प्रशम भाव की प्राप्ति होना "सामायिक" है।

(२) सामयिक - सम सम्यक् अय-प्राप्ति, जिसमे सम्यग्दयापूर्वक (मैत्री भावपूर्वक) समस्त जीवो के प्रति व्यवहार हो वह "सामयिक" है।

(३) सम्यग्वाद—राग-द्वेषरहित मध्यस्थ भाव से यथार्थ कथन "सम्यग्वाद" है।

(४) समास—ससार मे से जीव को अथवा जीव मे से कर्म को बाहर निकालना (पृथक करना) अथवा जो समता का स्थान होता है वह 'समास' कहलाता है।

(५) सक्षेप - महान् अर्थयुक्त फिर भी अल्पाक्षरी, अत वह सक्षेप कहलाती है।

(६) अनवद्य—पाप रहित हो वह 'अनवद्य'।

(७) परिज्ञा—पाप का त्याग करने के लिये हेय-उपादेय वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना वह "परिज्ञा" है।

(८) प्रत्याख्यान—त्याज्य वस्तु का गुरु-साक्षी से निवृत्ति-कथन।

विशेष—सामायिक एकान्त से प्रशम की प्राप्ति स्वरूप है। शम-प्रशम समाधि स्वरूप है। कहा भी है कि विकल्प विषय से रहित, आत्म-स्वभाव के आलम्बन वाली ज्ञान की परिपक्व अवस्था "शम" है। ऐसे शमरस मे तन्मयता होना सामायिक है और वह मानसिक समता स्वरूप है, जिससे सिद्ध होता है कि "सामायिक" परम समाधि स्वरूप है, और इसकी प्राप्ति समस्त जीव-विषयक दया (मैत्री) के पालन से ही हो सकती है, इसके अतिरिक्त नही। जिसमे ऐसा प्रवर्तन हो उसे "सामायिक" कहते हैं। इस व्याख्या से कायिक समता का निर्देश दिया गया है। जिनवचन का मध्य-स्थता से उपदेश सम्यग्वाद. है, वचन-क्रिया रूप सामायिक वाचिक समता को सूचित करती है।

इस प्रकार तीनो योगों की समतापूर्वक प्रवृत्ति सामायिक है।

केवल चार अक्षरो मे अनेक गम्भीर अर्थ समाविष्ट होने से सामा-

यिक को 'समास' कहा जा सकता है, तथा चौदह पूर्व अथवा समस्त द्वादशागी का पिण्डित अर्थ सामायिक मे संगृहीत होने से इसे "सक्षेप" भी कहा जाता है।

सम्यग्ज्ञान के बिना समता प्राप्त नही होती, यह बताने के लिये ही यहाँ "समास एव सक्षेप" इन दो नामो के द्वारा बताया गया है कि सामायिक श्रुत ज्ञान स्वरूप है, इसमे समस्त द्वादशागी के महान् गम्भीर भाव भरे हुए हैं।

सामायिक समस्त पाप व्यापार के परिहार से प्राप्त होती है। जब तक जीवन में एक पाप-कार्य भी चल रहा हो, तब तक 'सम्पूर्ण सामायिक' प्राप्त नही हो सकती। यह बात बताने के लिये सामायिक को "अनवद्य" नाम से भी सम्बोधित किया गया है।

समस्त सावद्य की त्याग-स्वरूप सामायिक हेय-उपादेय वस्तु के ज्ञान के बिना सम्भव नही होती, तथा यह समस्त सावद्य त्याग का प्रत्याख्यान गुरु भगवान को साक्षी मे ही करना पडता होने से सामायिक के "परिज्ञा" एव "प्रत्याख्यान" नाम भी सार्थक हैं।

श्री आचाराग सूत्र मे "परिज्ञा" के दो भेद बताये गये हैं—(१) ज्ञपरिज्ञा और (२) प्रत्याख्यान परिज्ञा। यहाँ उन दोनो को सामायिक के समानार्थक नामो के रूप मे ग्रहण किया गया है। परिज्ञा मे ज्ञान एव क्रिया रूप मोक्ष-मार्ग का निर्देश होने से वह सामायिक स्वरूप है।

सामायिक के ये आठो एकार्थक नाम (पर्यायवाची शब्द) सामायिक के भिन्न-भिन्न अर्थों को स्पष्ट बोध कराते हैं।

इन आठो नामो में रत्नत्रयी एव पचाचार का अन्तर्भाव हो चुका है, जिसका निम्न विचार किया जा सकता है—

"सामायिक" प्रशम भाव की प्राप्तिस्वरूप होने से उसमे सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रयी का और ज्ञानाचार, दर्शनाचार और चारित्राचार का समावेश हुआ है।

सम्यग्वाद—यह वचन शुद्धि रूप होने से उसमे सम्यग्-दर्शन एव दर्शनाचार का समावेश हुआ है।

समास, सक्षेप एव परिज्ञा शब्दो मे सम्यग्ज्ञान और ज्ञानाचार का समावेश हुआ है।

सामायिक एवं अनवद्य शब्दो मे सम्यग्-चारित्र और चारित्राचार का समावेश हुआ है।

प्रत्याख्यान शब्द मे सम्यग्-तप और तपाचार तथा वीर्याचार का समावेश हुआ है।

ज्ञान आदि चारो आचारो के पालन से वीर्याचार का पालन अवश्य होता है, जिससे वीर्याचार का सबमें समावेश हो जाता है।

ये विभाग नाम-भेद के कारण सामान्यतया किये गये हैं। अन्यथा अर्थत तो सामायिक में कोई भेद नही है। सामायिक रत्नत्रयी एव पचा-चार स्वरूप ही है।

९. सामायिक सूत्र एवं रहस्यार्थ

सामायिक के उपोद्‌घात का वर्णन पूर्ण हुआ। अब "सूत्र" की व्याख्या के निर्देश दिये जाते है। "विशेषावश्यक भाष्य" में सामायिक सूत्र की व्याख्या करने से पूर्व नवकार मन्त्र की व्याख्या की गई है, जिससे—

प्रश्न—सबके मन मे सहज रूप से उठने वाला यह प्रश्न है कि व्याख्या यदि सामायिक सूत्र की करनी है तो प्रथम निर्देश नमस्कार महा-मत्र का क्यो ? उसकी व्याख्या को अग्रस्थान देने का क्या कारण है ?

समाधान—नमस्कार मत्र का प्रथम निर्देश यह सूचित करता है कि सामायिक सूत्र का पाठ (उच्चारण) नमस्कार पूर्वक ही किया जाता है। दूसरी बात यह है कि "नमस्कार" (नवकार मत्र) समस्त श्रुतस्कन्धो में अभ्यतरभूत है, अर्थात् यह समस्त आगम शास्त्रो में व्याप्त है। अतः प्रथम इसकी व्याख्या करके तत्पश्चात् सामायिक सूत्र की व्याख्या करना शास्त्र-कार ने उचित माना है।

प्रश्न—एक प्रश्न और उठता है कि नमस्कार मत्र का प्रथम निर्देश सामायिक सूत्र के आदि-मंगल के लिए अथवा उपोद्‌घात निर्युक्ति के अन्तिम मगल के लिए भी किया हो ?

समाधान—नही, यह शका भी उचित नही है, क्योकि पूज्य भद्रबाहु स्वामीजी ने "आवश्यक सूत्र" के प्रारम्भ मे "नदी" के रूप मे तथा अन्त मे "प्रत्याख्यान" के रूप मे मगल किया ही है। अत दूसरी बार मगल करना आवश्यक नही है, परन्तु नमस्कार परमार्थतः सामायिक स्वरूप है, सामा-यिक का ही अग है। यह बताने के लिए ही इसका प्रथम निर्देश किया है।

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है कि नमस्कार मत्र सामायिक का मूल है, क्योकि नमस्कार विनम्र एव भक्ति स्वरूप है और सामायिक धर्म स्वरूप है।

धर्म का मूल विनय है। जिस व्यक्ति मे विनय एवं भक्ति की भावना होती है, वही विशुद्ध सामायिक-समता को प्राप्त कर सकता है।

नमस्कार के द्वारा पाँचो परमेष्ठियो को अर्थात् विश्व की सर्वोच्च आध्यात्मिक भूमिका मे स्थित सामायिकवान् विभूतियो को वन्दन किया जाता है, जिससे साधक को भी विशुद्ध सामायिक की प्राप्ति सुलभ होती है।

नमस्करणीय के गुण प्राप्त करने को "नमस्कार" एक गुरु-चाबी है। अहकार का सर्वथा त्याग करके हम जिनके प्रति नम्रता रखते हैं, आदर एव भक्ति धारण करते हैं उनके विशिष्ट गुणो का हमारे भीतर सक्रमण होता है। सामायिकवान् की सेवा (भक्ति) किये बिना सामायिक प्राप्त नही हो सकती। इस रहस्योद्‌घाटन के लिए ही "नमस्कार" को सामायिक का अग मान लिया हो यह स्पष्ट समझा जा सकता है ।

"नमस्कार निर्युक्ति" में नमस्कार की विस्तारपूर्वक व्याख्या करके उसका विशेष महत्व बताया गया है ।

समाधि (सामायिक) के अभिलाषी सुज्ञ साधको को सर्वप्रथम श्री नमस्कार मत्र को जीवन मे आत्मसात् करना चाहिए ।

धर्म के प्रमुख दो अंग हैं—(१) निश्चयधर्म और (२) व्यवहारधर्म। ये दोनो परस्पर सकलित हैं, एक दूसरे के पूरक हैं। निश्चय-निरपेक्ष व्यवहार अथवा व्यवहार-निरपेक्ष निश्चय कदापि कार्य-साधक नही बन सकते ।

मोक्षरूप कार्य को सिद्धि दोनो धर्मों के सापेक्ष पालन से ही होती है। जिस प्रकार बाह्य जीवन मे समस्त कार्यों की सिद्धि देह के मुख्य अग मस्तक एव धड दोनो की सापेक्षता से ही होती है। धडविहीन मस्तक से अथवा मस्तकविहीन धड से कोई निश्चित कार्य-सिद्धि नही हो सकती। यहा भी नमस्कार सामायिक का आदि अग है यह बताकर निश्चय-व्यवहार धर्म की पारस्परिक सापेक्षता सिद्ध की गई है ।

व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है। साध्य की सिद्धि साधन (की साधना) के बिना नही हो सकती ।

प्रथम कक्षा मे नमस्कार साधन है, सामायिक साध्य है जो इस प्रकार है—नमस्कार अर्थात् पूज्यो की पूजा, भक्ति, सम्मान, और आज्ञा-पालन के द्वारा उसके फलस्वरूप सम्यक्त्व, श्रुत एवं चारित्र सामायिक की प्राप्ति होती है।

द्वितीय कक्षा मे नमस्कार, अर्थात् सामायिक की प्राप्ति के पश्चात् आत्म-स्वभाव-परिणमन रूप नमस्कार साध्य होता है और "सामायिक"

उसका साधन होता है, अर्थात् ज्यो-ज्यों पदार्थों की श्रद्धा, ज्ञेय पदार्थों का यथार्थ बोध, हेय पदार्थों का त्याग और उपादेय पदार्थों का आदर होता है, त्यों-त्यो आत्मा का स्वभाव मे विशेष-विशेष परिणमन होता रहता है।

इस प्रकार निश्चय-सापेक्ष व्यवहार का पालन क्रमश मोक्ष का शाश्वत सुख उपहारस्वरूप प्रदान करता है। इस सापेक्ष दृष्टि से आराधना मे ओत-प्रोत होने की अपूर्व कला प्राप्त करके जीवन मे निश्चय एवं व्यवहार का सुमेल करने के लिए यथासभव प्रयत्न करना ही समस्त मुमुक्षु आत्माओ का प्राप्त कर्तव्य है।

कोई भी योग प्रीति, भक्ति, वचन एव असग अनुष्ठानमय हो तो ही वह मोक्ष-साधक होता है। नमस्कार भी उपर्युक्त चारो अनुष्ठान-स्वरूप है जो इस प्रकार है—

कायिक नमस्कार—करबद्ध शीश झुकाकर किया जाने वाला नमस्कार।

वाचिक नमस्कार—पंच परमेष्ठियो के गुणो की स्तुति।

मानसिक नमस्कार—मन ही मन पच परमेष्ठियो के प्रति उत्पन्न होता आदर भाव।

इस प्रकार तीनो योगो की एकाग्रतापूर्वक नमस्कार करने से साधक के हृदय मे पच परमेष्ठियो के प्रति परम भक्ति-प्रोति उत्पन्न होती है और ज्यो-ज्यो इस भक्ति-प्रीति का विकास होता रहता है, त्यो-त्यों परमेष्ठियो के वचनो के प्रति अर्थात् उनके द्वारा बताये गये "आगमो" के प्रति विशेष सम्मान भाव उत्पन्न होता रहता है, जिससे शास्त्रोक्त विधि-पूर्वक अनुष्ठान करने की प्रेरणा जागृत होती है, तब नमस्कार "वचन अनुष्ठान" की कोटि मे अर्थात् शास्त्र योग की कोटि मे आता है। सामायिक उस नमस्कार का फल है।

जो प्रीति एव भक्ति परमेष्ठियो के प्रति थी वह सामायिक प्राप्त होने पर उनके वचनो के प्रति अर्थात् जिनागम को जिनस्वरूप मानकर उनके प्रति भी उतना ही प्रेम एव सम्मान होता है, तत्पश्चात् सावद्ययोग के परिहार एव निरवद्य योग के सेवन से आत्म-परिणति निर्मल, निर्मलतर होने से जब पच परमेष्ठियो के साथ एकता स्थापित होती है, तब साधक को अपनी आत्मा भी परमेष्ठी तुल्य प्रतीत होती है, जिससे उसके प्रति भी उतना ही पूज्य भाव उत्पन्न होता है। इस स्थिति मे नमस्कार असंग

अनुष्ठान स्वरूप हो जाता है जिसे सामर्थ्य योग का नमस्कार भी कहा जाता है। ऐसा एक ही नमस्कार जीव को ससार-सागर से पार लगाने मे समर्थ है।[1]

नमस्कार समस्त श्रुतस्कन्ध में अभ्यन्तरभूत है अर्थात् व्यापक है, जिसका कारण यही है कि "नमस्कार" भक्तिस्वरूप है। पच परमेष्ठियो की सेवा, भक्ति से आत्म-शुद्धि प्रकट होती है।

नमस्कार का फल—

अरिहत-नमुक्कारो, जीव मोएइ भवसहस्साओ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुण बोहिलाभाए॥

इस गाथा मे नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव नमस्कार ग्रहण किया गया है, जो इस प्रकार है—

(१) "नमोक्कार" से नाम नमस्कार ग्रहण किया हुआ है।

(२) "अरिहत" शब्द से बुद्धिस्थित अरिहत के आकार वाली स्थापना का ग्रहण है।

(३) "कीरमाणो" अजलि पूर्वक किया जाने वाला द्रव्य नमस्कार है।

(४) "भावेण" पद से भाव नमस्कार का ग्रहण है।

इन चारो प्रकार से किया जाने वाला नमस्कार जीव को अनन्त भव-भ्रमण से मुक्त कराता है। उसी भव मे मुक्त कराता है अथवा भावना (उपयोग) विशेष से किया जाने वाला नमस्कार अनन्य जन्मो मे बोधि—सम्यग्दर्शन आदि अवश्य प्राप्त कराके क्रमश अल्प समय मे ही मुक्ति प्रदान करता है। ससार-क्षय के लिए तत्पर बने धन्य पुरुषो के हृदय मे सतत निवास करता नमस्कार प्राणियो को कुमार्ग से एवं दुर्ध्यान से भी रोकता है।[2]

जिनशासन मे एक वाक्य को भी, यदि उक्त वाक्य सवेग उत्पन्न करने वाला हो तो "प्रकृष्टज्ञान" के रूप मे महत्व दिया गया है, क्योकि ज्ञान उसे ही कहा जाता है जिससे वैराग्य प्राप्त होता है।

अरिहत भगवान को किया गया नमस्कार आठो प्रकार के कर्मों का

---

१ इक्कोवि नमुक्कारो जिनवर वसहस्स वद्धमाणस्स।
ससार सागराओ तारेइ नर व नारी वा॥

२ अरिहत नमुक्कारो धण्णाण भवक्खय करताण।
हियय अणम्मुयतो विसोत्तिया वारओ होइ॥

नाश करता है, समूल उच्छेद करता है तथा सर्व नाम आदि मगलो में नमस्कार प्रधान मगल है, क्योकि साध्य-मोक्ष का भी यही साधक है, अथवा द्रव्य भाव मंगलों मे प्रथम मगल है। आदि मे उसका निर्देश होने से नन्दी सूत्र मे स्तुति के दो प्रकार बताये गये हैं—एक "प्रमाण रूप" और दूसरा "गुणोत्कीर्तन[1] रूप"। "नमो" के द्वारा उन दोनो प्रकार की स्तुति होती है और उसका फल बताते हुए आगम ग्रन्थो में उल्लेख है कि—

"जिनेश्वर की स्तुति से जीव ज्ञान, दर्शन, चारित्र और बोधिलाभ प्राप्त करता है और वह ज्ञान आदि से उसी भव मे मोक्ष प्राप्त करता है।"

यह महान फलश्रुति ही स्पष्ट करती है कि "नमस्कार" के द्वारा अवश्य सामायिक की प्राप्ति होती है।

❖❖

१ अरिहत नमुक्कारो धण्णाणं भवखयं करंताण।
हियय अणम्मुयंतो वियोत्तिया वारओ होइ॥

विभाग : २

सामायिक सूत्र

(शब्दार्थ एवं विवेचन युक्त)

सामायिक सूत्र

(शब्दार्थ एव विवेचना)

(१) मूल पाठ—

करेमि भन्ते ! सामाइय, सव्व सावज्ज जोग पच्चक्खामि।
जावज्जीवाए (जाव नियम पज्जुवासामि)
तिविहं, तिविहेण (दुविह तिविहेण)
मणेण वायाए काएण,
न करेमि, न कारवेमि, करतपि अन्नं न समणुज्जाणामि।
तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाण वोसिरामि।

(२) सस्कृत छाया—

करोमि भदन्त ! सामायिक, सर्व सावद्य योग प्रत्याख्यामि।
यावज्जीवया (यावत् नियमं पर्युपासे)
त्रिविध त्रिविधेन (द्विविध त्रिविधेन)
मनसा वाचा कायेन,
न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमपि अन्य न समनुजानामि।
तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हे आत्मान व्युत्सृजामि।

अर्थ—

करेमि = मैं करता हू, मैं ग्रहण करता हू।

भन्ते = हे भदन्त ! हे भवात ! हे भयात ! हे भगवान् !

भदन्त अर्थात् कल्याणकारी, भवात अर्थात् चतुर्गतिरूप भवसागर का अन्त करने वाले, भयात अर्थात् सात प्रकार के भय का अन्त करने वाले, भगवान् अर्थात् पूज्य।

सामाइय = सामायिक को।

सव्व सावज्ज = सावद्य-पाप सहित, पाप वाले (ऐसे) सब।

जोग = योग को (मन, वचन और काया के व्यापार को)।

पच्चक्खामि = प्रत्याख्यान करता हूँ, निषध करता हूँ, त्याग करता हूँ।

जावज्जीवाए=जीवित हूँ तब तक ।

(जावनियमं पज्जुवासामि=जब तक नियम की, ली हुई प्रतिज्ञा की पर्युपासना करूँ)

तिविहं=करने, कराने और अनुमोदन स्वरूप तीन प्रकार से ।

(दुविह=करने और कराने के रूप मे दो प्रकार से)

तिविहेण=तीन प्रकार से अर्थात् मणेणं=मन से, वायाए=वचन से, काएण=शरीर से ।

न करेमि=मैं नही करूँ, न कारवेमि=मैं नही कराऊँ ।

करतंपि अन्नं न समणुज्जाणामि=करते हुए किसी अन्य का अनुमोदन भी नही करूँ ।

तस्स=उस सावद्य योग का ।

भन्ते=हे भगवान् ।

पडिक्कमामि=मैं प्रतिक्रमण करता हूँ अर्थात् उक्त पाप से पीछे हटता हूँ ।

निंदामि=मैं निंदा करता हूँ, पश्चात्ताप करता हूँ (आत्म साक्षी से)

गरिहामि=मैं गर्हा करता हूँ, गुरु की साक्षी से विशेषतया निन्दा करता हूँ ।

अप्पाण=आत्मा को (अर्थात् पूर्वकाल से सम्बन्धित दुष्ट क्रिया करने वाली जो मेरी आत्मा—कषायात्मा उसे उस दुष्ट क्रिया से)

वोसिरामि=मैं वोसिराता हूँ, त्याग करता हूँ ।

विवेचन—

"करेमि भन्ते" नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध इस सूत्र का दूसरा नाम "सामायिक सूत्र" है। यह सूत्र प्रतिज्ञा स्वरूप है, निश्चित समय तक सामायिक (समभाव) मे रहने की प्रतिज्ञा इस सूत्र का उच्चारण करके ग्रहण की जाती है। किसी भी पदार्थ अथवा क्रिया के त्याग अथवा सेवन के लिए प्रतिज्ञा लेना अनिवार्य है। उसके बिना चचल चित्तवृत्तियों पर नियन्त्रण नही हो पाता, प्रतिज्ञा के बिना त्याग अथवा सेवन का वास्तविक फल भी प्राप्त नही होता।

प्रतिज्ञा की काल-मर्यादा सामान्यतया व्यक्ति की इच्छा एवं शक्ति पर ही निर्भर करती है। फिर भी जिस प्रतिज्ञा पच्चक्खाण मे समय का निर्देश न हो, उस पच्चक्खाण का कम से कम काल दो घडी (४८ मिनट) का समझना चाहिए ऐसी शास्त्रो की मर्यादा है।

इस सामायिक प्रतिज्ञा सूत्र मे त्याग करने के लिए क्या है और पालन करने के लिए क्या है, आदि समस्त बातो का विचार भिन्न-भिन्न तेरह बिन्दुओ के द्वारा किया जाता है।

सामायिक सूत्र मे समाविष्ट १३ बिन्दु—

(१) सामायिक ग्रहण करना—करेमि भन्ते सामाइय—हे भगवन् ! मैं सामायिक करता हूँ।

(२) समस्त सावद्य योगो का त्याग—सावज्ज जोग पच्चक्खामि —मैं सावद्य योगो का त्याग करता हूँ।

(३) काल का नियम—जावज्जीवाए—जीवित हूँ तब तक।

(४, ५, ६) तीन योग—तिविह, न करेमि, न कारवेमि, करतपि अन्न न समणुज्जाणामि।

(७, ८, ९) तीन करण—तिविहेणं मणेण वायाए कायेण।

(१०, ११ १२, १३) चार प्रतिज्ञा—तस्स भते पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाण वोसिरामि। तीन प्रकार से, तीन प्रकार के सावद्य व्यापार को मन, वचन और काया से नही करूँगा, नही कराऊँगा, करने वाले का अनुमोदन भी नही करूँगा। हे भगवन् ! भूतकाल मे किये गये उस पाप से पीछे हटता हूँ, आत्म-साक्षी से निन्दा करता हूँ, गुरु की साक्षी से गर्हा करता हूँ और पापयुक्त उस अपनी आत्मा का त्याग करता हू अर्थात् भविष्य मे उक्त पाप नही करने की प्रतिज्ञा अगीकार करता हूँ।

"करेमि भन्ते सामाइय"—हे भगवन् ! मैं सामायिक अगीकार करता हूँ।

इस पद के द्वारा सामायिक ग्रहण करने की सूचना दी है। ये तीनों पद महान अर्थगर्भित हैं। अत एक-एक पद का विस्तृत वर्णन "विशेषावश्यक" आगम ग्रन्थो मे किया हुआ है। यहाँ तो उस पर सक्षिप्त विचार करेंगे।

प्रश्न—यह वाक्य सुनकर एक प्रश्न उपस्थित होता है कि सामान्यतया प्रत्येक वाक्य कर्त्ता, कर्म और करण आदि कारको का सूचक होता है, तो उपर्युक्त वाक्य मे कर्ता कौन है ? कर्म क्या है ? करण—साधन कहाँ है ? और ये तीनो परस्पर भिन्न है अथवा अभिन्न ?

समाधान—(१) सामायिक करने वाला "व्यक्ति" ही स्वतन्त्र होने से कर्त्ता है। (२) क्रियमाण (की जाने वाली) "सामायिक" ही कर्म (कार्य) है। (३) मन, वचन और काया तीनो करण हैं। (४) सामायिक, उसका

कर्त्ता और उसके साधन (मन, वचन और काया) ये तीनो आत्मा ही हैं, अर्थात् सामायिक रूप कार्य, उसका कर्त्ता (आत्मा) और उसके करण ये तीनो आत्म-परिणाम रूप होने से एक ही हैं, भिन्न-भिन्न नही हैं, क्योकि सामायिक (सामान्यतया) ज्ञान, दर्शन और चारित्र स्वरूप है और करण मन-वचन-काया रूप योग है और वे दोनो आत्मा के ही स्वपर्याय हैं।

प्रश्न—आपकी इस मान्यता के अनुसार तीनो को एक (अभिन्न) मानने मे एक बड़ा दोष आयेगा कि सामायिक का नाश होने पर जीव का भी नाश होगा।

समाधान—आपकी आशका ठीक नही है। सामायिक आदि पर्याय का नाश होने पर जीव का नाश नही होता, क्योकि जीव तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप अनन्त पर्याय युक्त है। उनमे से एक सामायिक आदि पर्याय का नाश होने पर भी शेष अनन्त पर्यायो से वह सदा स्थिर रहती है।

केवल आत्मा ही नही परन्तु विश्व के समस्त पदार्थ भो उत्पत्ति, विनाश एवं ध्रुव स्वभाव युक्त हैं और इस प्रकार माना जाये तो ही सुख-दु ख अथवा बध-मोक्ष आदि की सम्पूर्ण व्यवस्था वास्तविक तौर से घटित हो सकती है, अन्यथा नही।

प्रश्न—तो फिर कर्त्ता आदि कारको का एकत्व प्राप्त होगा उसका क्या ?

समाधान—कर्त्ता आदि कारको का एकत्व परिणाम विवक्षावश से हो सकता है, इसमे कोई दोप जैसी बात नही है, जैसे एक ही देवदत्त कटादि का कर्त्ता, दृष्टाओ का कर्म और प्रयोजक करण के रूप मे परिणत हो जाये तब करण के रूप मे प्रयुक्त होता है, तथा विवक्षावश से भी एक ही वस्तु मे अनेक कारको का प्रयोग होता है। जैसे घड़े का नाश होता है। यहाँ घट विशरण क्रिया के कर्त्ता के रूप मे विवक्षित है, तथा विशरण क्रिया के व्याप्य के रूप में विवक्षित हो तो वही घट कर्म हो जाता है और वह घट पर्याय से नष्ट होता है, इस प्रकार करण के रूप मे विवक्षित हो तो करण बनता है।

इस प्रकार एक ही वस्तु विविध अपेक्षा से भिन्न-भिन्न कारको के रूप मे प्रयुक्त होती है, जैसे ज्ञानी पुरुष (मतिज्ञान आदि से युक्त) स्वसवेदन रूप उपयोग काल में एक होने पर भी तीन स्वरूप मे दृष्टिगोचर होते हैं, (१) ज्ञानी स्वउपयोग मे उपयुक्त होने से कर्त्ता, (२) सवेद्यमान रूप मे कर्म और (३) ज्ञान से अभिन्न होने के कारण करण।

इसी तरह से सामायिक करने वाला भी एक होते हुए भी विवक्षा-वश कर्त्ता, कर्म और करण के रूप मे कहा जा सकता है।

(१) "करेमि" पद का रहस्य—"करेमि" क्रिया सामायिक की क्रिया और उसके कर्त्ता को सूचित करती है। प्रत्येक कार्य मे षट्कारक-चक्र का कारण के रूप मे उपयोग होता है, उसके बिना कोई भी कार्य नही हो सकता।

वास्तव मे तो कर्तृत्व आदि छ महाशक्ति आत्मा की ही हैं, परन्तु अनादिकालीन अज्ञान के अधीन बने ससारी व्यक्ति देह मे ही आत्मबुद्धि रखकर और उसके काल्पनिक सुख के लिए हिंसा आदि अनेक पाप-व्यापार करते हैं जिससे इन कारक शक्तियो का विपरीत प्रयोग होने से ज्ञाना-वरणीय आदि कर्मों का सृजन होता है और उसके फलस्वरूप जीव को अनेक प्रकार की दारुण वेदना भोगनी पडती है बहुत समय तक ससार में भटकना पडता है। जब किसी सच्चे सद्गुरु का पवित्र सम्पर्क होता है और उनसे सामायिक का सुन्दर स्वरूप श्रवण करके (ज्ञात करके) उस समस्त सावद्य-पाप व्यापार का परित्याग करके और समभाव मे रहने के लिए "सामायिक" की प्रतिज्ञा ग्रहण करता है, तब उसकी कर्तृत्व आदि शक्तियाँ आत्मस्वरूप की साधक बनकर क्रमश मोक्ष रूपी कार्य को सिद्ध करने के लिए तत्पर होती है।

इस प्रकार अनादि काल से बाधक रूप मे परिवर्तित होने पर (एक कर्तृत्व शक्ति का परिवर्तन होने से शेष कारक शक्ति भी स्वयमेव परिवर्तित हो जाती है) इस षट्कारक चक्र का सद्गुरु भगवान "सामायिक" के द्वारा साधक के रूप मे परिवर्तित कर सकते हैं।

(२) "भन्ते" पद का रहस्य—इस पद के द्वारा जगद्गुरु तीर्थंकर परमात्मा एव सद्गुरु भगवान का निर्देश दिया गया है।

"करेमि भन्ते सामाइय"—ये तीनो शब्द ध्याता, ध्येय और ध्यान को सूचित करते हैं। जब तीनो की एकता हो जाती है, तब निश्चय-सामा-यिक (समापत्ति) सिद्ध होती है।

प्रथम कक्षा मे व्यवहार सामायिक में तीनो की भिन्नता होती है, जैसे—

(१) ध्याता—अन्तरात्मा, सामायिक करने वाला व्यक्ति।

(२) ध्येय—परमात्मा अथवा गुरु भगवान।

(३) ध्यान—सम्यग्दर्शन[1], ज्ञानचारित्र स्वरूप "सामायिक" ही है।

व्यवहार-सामायिक के साधन सावद्य—पाप व्यापारों का त्याग, मन, वचन और काया आदि हैं, जिनका निर्देश सूत्र मे ही हो चुका है। व्यवहार सामायिक के सतत सेवन से ही निश्चय सामायिक प्रकट होती है।

निश्चय-सामायिक की प्राप्ति होने पर आत्मा आत्मा के द्वारा आत्मा को आत्मा मे ही अनुभव करती है, वही ज्ञान, दर्शन, चारित्र कहलाता है। इस कक्षा मे छ ओ कारक एक हो जाते हैं। अत. उनकी भिन्नता दृष्टिगोचर नही होती।

गुरु तत्त्व का महत्त्व—भन्ते ! हे गुरु भगवान् ! "भन्ते" शब्द का भिन्न-भिन्न रूप से प्रयोग करने पर कितने अर्थ आदि घटित हो सकते हैं जो यहाँ बताये गये हैं। प्राकृत शैली के कारण ये समस्त अर्थ होते हैं और वे यथार्थ हैं।

"भदन्त"—कल्याण अथवा सुख-स्वरूप मोक्ष अथवा ज्ञान आदि गुण प्राप्त कराने वाले होने से आचार्य भगवान् "भदन्त" कहलाते हैं।

भवान्त—भव (ससार) का अन्त करने वाले होने से आचार्य भगवान् "भवान्त" कहलाते हैं।

भयान्त—सातो प्रकार के महान् भयो के नाशक होने से आचार्य भगवान् "भयान्त" कहलाते हैं।

भजन्त—जो मोक्ष-मार्ग का सेवन करते है अथवा जो मुमुक्षुओं के द्वारा सेव्य है। इस कारण आचार्य भगवान् "भजन्त" कहलाते हैं।

भ्राजन्त—जो ज्ञान एवं तप के तेज से तेजस्वी हैं, अतः आचार्य भगवान् "भ्राजन्त" कहलाते हैं।

"भन्ते" शब्द के द्वारा गुरु को निमन्त्रण देने का क्या महत्व है ? इस प्रश्न का उत्तर भी महत्वपूर्ण है, वह यह है कि शिष्य के लिए गुरुकुल-निवास का महत्व और प्रत्येक क्रिया गुरु के पवित्र सान्निध्य मे ही करने की है, यह बताने के लिए "भन्ते" का निमन्त्रण-सूचक प्रयोग किया गया है।

ज्ञान आदि गुणो का अर्थी शिष्य नित्य गुरुकुल-वासी होता है, क्योंकि उसके बिना ज्ञान आदि गुणो की प्रगति एव श्रद्धा तथा चारित्र-धर्म मे अधिकाधिक स्थिरता होना सम्भव नही है।

---

१ 'ताहरू ध्यान ते समकित रूप, तेहीज ज्ञान अने चारित्र तेह छे जी"

प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि प्रत्येक आवश्यक क्रियायें भी गुरु की निश्रा मे करनी चाहिये, ताकि उनमे अतिचार, स्खलना आदि की सभावना न रहे और विधि-विधान मे तनिक भी प्रमाद न रहे ।

समस्त आवश्यक कर्तव्य गुरु को पूछकर ही करने चाहिये। इस आमन्त्रण-सूचक "भन्ते" शब्द की मुख्य ध्वनि यही है ।

प्रश्न—गुरु को पूछने की आवश्यकता क्यो ?

समाधान – विनय सेवा का हेतु है । सेवा के लिए समयोचित मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है । गुरु भगवान कृत्य, अकृत्य और द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि के ज्ञाता होते है । इस कारण ही उनकी आज्ञा की आवश्यकता रहती है । अरे, श्वासोश्वास लेने-छोडने की क्रिया के लिए भी गुरु की आज्ञा लेने का शास्त्रीय आदेश है, विधान है । इसी प्रकार से गुरु की निश्रा (उपस्थिति) भी महान फलदायिनी है ।

प्रत्येक क्रिया करते समय "स्थापनाचार्य जी" को सम्मुख रखने का यही कारण है । जिस प्रकार जिनेश्वर के विरह मे जिन-पडिमा और जिनागम की पूजा आदि करने से साक्षात् जिन-पूजा जितना ही फल प्राप्त होता है, उसी प्रकार से गुरु के विरह मे भी "गुरु-स्थापना" उनके उपदेश को बताने वाली होने से पूजनीय है । उनकी विनयपूर्वक भक्ति, पूजा अवश्य फलदायिनी होती है । जिस प्रकार किसी राजा अथवा मन्त्र-देवता की आराधना परोक्ष रूप से की जाये तो भी उसके आराधक को इष्ट-फल प्राप्त होता है, उसी प्रकार से अप्रत्यक्ष गुरु की सेवा भी विनय का कारण बनती है ।

गुरु की स्थापना मे दर्शन-वन्दन से शिष्य को गुरु के गुणो का स्मरण होता है और जब वह उसमे तन्मय हो जाता है तब उक्त शिष्य भी "भाव गुरु" का स्वरूप धारण करता है, यह एक अपेक्षा से (आगम मे भाव-निपेक्ष से) कहा जा सकता है । इस कारण ही गुरु की अनुपस्थिति मे गुरु-स्थापना गुरु के गुणो का ज्ञान-स्मरण कराने मे महान निमित्त होती है । इसलिए साक्षात् गुरु की तरह स्थापना-गुरु की भी विनय करना आवश्यक है क्योकि दोनो की सेवा का फल समान है ।

जिन-शासन का मूल विनय है । विनीत व्यक्ति ही "सयत—सयमी" होता है । विनयविहीन व्यक्ति को धर्म अथवा तप की सम्भावना नहीं होती ।

गुरु-वन्दन के महान लाभ—

सद्गुरु भगवानों को वन्दन, नमन करने से अनेक प्रकार के लाभ होते हैं, अनेक प्रकार के गुण प्राप्त होते हैं। आदर पूर्वक गुरु-वन्दन करने से विनय धर्म की आराधना होती है, अभिमान पिघल जाता है, गुरु-जनों की पूजा-सेवा होती है, तीर्थंकर भगवान की आज्ञा का पालन होता है और श्रुत-धर्म की आराधना होती है।

"भन्ते" शब्द की व्याख्या करते हुए शास्त्रकार महर्षि ने गुरु तत्व का जो विशिष्ट स्वरूप एवं महत्व प्रतिपादित किया है, उसके गूढ रहस्य तो कोई बहुश्रुत गीतार्थ गुरु भगवान् ही समझा सकते हैं। यहाँ तो उसके स्वरूप सार मात्र पर विचार किया जायेगा।

गुरु-तत्व का स्वरूप—"भन्ते" शब्द के भदन्त आदि पर्यायवाची शब्दो के द्वारा गुरु-तत्व का स्वरूप स्पष्ट किया गया है जो इस प्रकार है—"भद्" धातु का अर्थ "कल्याण" और "सुख" होता है, जिससे बने "भदन्त" शब्द का अर्थ "कल्याणकारी" एव "सुखी" होता है। गुरु भगवान स्वयं कल्याणस्वरूप एव सुखस्वरूप हैं और अन्य व्यक्तियो को भी कल्याण एव सुख प्राप्त कराने वाले हैं। कल्य का अर्थ "आरोग्य" भी होता है। गुरु भगवान् मोक्ष अथवा उसके कारणभूत ज्ञान आदि भाव-आरोग्य को प्राप्त कराते है, स्वय मोक्ष अथवा उसके कारणभूत ज्ञान आदि के स्वरूप को जानते हैं और भव्य आत्माओ को बताते हैं।

अथवा तो गुरुदेव द्वारा दिये गये अभयदान आदि के उपदेश से अहिंसा आदि की शुभ प्रवृत्ति से जीव सुख का अनुभव करते हैं, अत सुख-दाता "गुरु" भी "सुख" कहलाते हैं।

भवान्त—भव का—चार गति स्वरूप दु खमय संसार का अन्त करने के उपदेशक गुरुदेव भी "भवान्त" कहलाते हैं।

भयान्त—इहलोक आदि सात भयो के नाशक होने से "गुरु" "भयान्त" कहलाते है। महान सात भय निम्नलिखित हैं—

(१) इहलोक भय—मनुष्य को मनुष्य का भय।

(२) परलोक भय—मनुष्य को तिर्यंच से भय।

(३) आदान भय--धन-धान्य आदि के नाश का भय (चोरी होने का भय)

(४) अकस्मात् भय—बाह्य निमित्त के बिना उत्पन्न होने वाले आकस्मिक भूकम्प, बाढ आदि का भय।

(५) अपयश भय—लोक मे अपकीर्ति होने का भय।

(६) आजीविका भय—जीवन-निर्वाह, परिवार-पोषण आदि की चिन्ता का भय।

(७) मृत्यु भय—मरने का भय।

ये सातो प्रकार के भय इस लोक से सम्बन्धित हैं और भव का भय परलोक से सम्बन्धित है।

सम्पूर्ण विश्व के जीवो पर ये दोनो प्रकार के भय झूम रहे हैं। भय की कल्पना मात्र से ही अनेक जीव आकुल-व्याकुल हो जाते हैं, मृत्यु के मुह मे से बचने का सभी लोग यथासम्भव पुरुषार्थ करते हैं। इन दोनो प्रकार के भयो का सर्वथा नाश करने के ठोस उपाय गुरुदेव के उपदेश के द्वारा ज्ञात होते हैं। सच्चे सद्गुरु के बिना कोई महाभयो से मुक्त होने का सच्चा मार्ग बता नही सकते।

इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व के जीवो को अभयदान एव सुख देने वाले तथा उनका कल्याण करने वाले ही "सद्गुरु" कहलाते हैं और वे विश्व-बन्धु तीर्थंकर परमात्मा और उनके आज्ञा-पालक आचार्य भगवान आदि ही हो सकते हैं।

उपर्युक्त गुणो के धारक गुरु की सेवा करने से भय अथवा भय का अन्त आ सकता है। यह गुरु-सेवा क्रमश गुरुकुल-वास, गुरु-पारतन्त्र्य एव उचित विनय आदि से होती है।

गुरुकुल-वास का अर्थ है गुरु के साथ रहना, भोजन, शयन, प्रति-क्रमण, विहार आदि क्रिया गुरु के साथ करना अथवा उनकी आज्ञानुसार अथवा उनकी निगरानी मे क्रिया करना। शास्त्रो मे गुरुकुल-वास का अत्यन्त महत्व बताया गया है। गुरु की निश्रा मे रहने से नित्य श्रुतज्ञान की वृद्धि होती है, सम्यग्-दर्शन आदि गुण निर्मल एव स्थायी होते जाते हैं और चारित्र की विशुद्धि एव स्थिरता मे वृद्धि होती जाती है। सक्षेप मे गुरु सामीप्य से श्रुत, सम्यक्त्व एव चारित्र सामायिक की प्राप्ति, शुद्धि, वृद्धि एवं स्थिरता होती है। गुरु का सतत सान्निध्य ही सापेक्ष यतिधर्म कहलाता है। गुरु-कुल-वास समस्त सदाचारो का मूल है।

गुरु पारतन्त्र्य का अर्थ है सम्पूर्ण समर्पित भाव, अपना जीवन सपूर्ण रूप से गुरु को सौप देना, उनकी आज्ञा को ही जीवन मन्त्र बनाना।

गुरु के साथ रहने पर भी यदि व्यवहार स्वच्छदतापूर्ण हो, गुरु की आज्ञा का पालन करने मे उपेक्षा होती हो, आँख-मिचौनी होती हो तो

इस प्रकार के गुरुकुल-वास का कोई फल प्राप्त नही होता। गुरु की आज्ञा का पालन किये बिना "भावयतिपन" नही आता। गुरु की आज्ञा की आराधना "भावयति" का लक्षण है। कहा भी है कि प्रत्येक प्रवृत्ति मे गुरु के समीप रहना अर्थात् गुरु की निश्रा मे प्रत्येक प्रवृत्ति करने को ही "अन्तेवासीपन" कहते है।

गुरु की दृष्टि[1], आज्ञानुसार व्यवहार करना।

गुरु द्वारा निर्दिष्ट मुक्ति-विरति-अनाशस भाव को जीवन मे ज्वलत करने का सतत प्रयास करना।

प्रत्येक कार्य मे गुरु को ही अग्रस्थान देना।

कोई भी कार्य स्वेच्छा से न करके गुरु की अनुमति से करना। गुरु के आसन के समीप अपना आसन रखना, गुरु के समीप रहना।

उचित विनय—गुरु की निश्रा मे रहने वाला, गुरु की आज्ञा का पूर्णत पालन करने वाला मुनि परम विनयी होता है, स्वय के गुरु तथा स्वय से अधिक पर्याय वाले अथवा ज्ञान आदि गुणो मे अधिक मुनिवरो के साथ भी यथोचित विनय रखने में प्रवीण होकर सबके साथ औचित्य रख कर गुरु की सेवा मे तत्पर रहता है।

गुरुदेव की आदरपूर्वक हार्दिक सेवा-शुश्रुषा करने से उनके आशय के अनुसार कार्य करने की कुशलता प्राप्त होती है। किसी समय गुरु ने आज्ञा प्रदान न की हो तो भी विनीत शिष्य उनके आशय के अनुरूप ही कार्य करता है।

इस प्रकार "गुरु-विनय" से "सामायिक" की प्राप्ति होती है, अन्यथा नही, यह बताने के लिए ही यहाँ गुरु-वन्दन एव सेवा आदि के लाभ बताकर उनका विशेष महत्व स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार के वन्दन एव नमस्कार के योग्य पाँचो परमेष्ठी हैं। उन सबका समावेश "भन्ते" मे हो चुका है।

'नमस्कार[2] निर्युक्ति" मे कहा है कि "नमस्कार करने योग्य यदि विश्व मे कोई हो तो वे ज्ञान आदि गुणो के भण्डार श्री अरिहत आदि

---

१ तद्दिट्ठीए, तम्मोत्तिए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तन्निवेसणे ॥ —धर्मसग्रह

२ ते अरिहता य सिद्धायरिओवज्झाय साहवो नेया।
जे गुणमय भावाओ गुणाव्व पुज्जा गुणत्थीण ॥२९४२॥ —विशेषा०

पाँच परमेष्ठी ही हैं। अत ज्ञान आदि गुणो के अभिलाषी व्यक्ति को तो पाँचो की नमस्कार आदि के द्वारा अहर्निश पूजा करनी चाहिए।"

सामायिक ज्ञानमय है। उसके अभिलाषी व्यक्ति को भी अरिहत आदि की सेवा करनी ही चाहिये।

"भन्ते" पद का रहस्यार्थ कहो अथवा समस्त शास्त्रो का सार कहो, वह यही है कि परमात्म-भक्ति और गुरु-भक्ति मे तन्मयता सिद्ध हो तो ही "सामायिक" (समाधि-समापत्ति) सिद्ध हो सकती है। इस "शास्त्र-वाचन" की विशेष स्पष्टता ज्यो-ज्यो हम आगे पढेंगे त्यो त्यो होती रहेगी।

प्रश्न—"भन्ते" पद से गुरु का ग्रहण तो हो जाता है, परन्तु अरिहन्त का ग्रहण कैसे होगा ?

समाधान[1]—महावीर भगवान आदि अरिहन्त जिस प्रकार अष्ट महाप्रातिहार्य आदि अतिशयो के कारण "जिनेश्वर" कहलाते हैं, उसी प्रकार से तत्व के उपदेशक होने से गुरु (आचार्य) भी कहलाते हैं। अत. "भन्ते" पद से दोनो का ग्रहण हुआ है। समस्त अरिहन्त परमात्मा तत्वोपदेश के द्वारा अपने गणधर आदि शिष्यो को सामायिक का दान करते हैं। उस समय उनके शिष्य "भन्ते" पद से भगवान को ही सम्बोधित करते हैं। यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है।

"भन्ते" पद के द्वारा उपयोग का महत्व—"भन्ते" आत्मा के निमन्त्रण के अर्थ मे भी लिया जा सकता है। अत सामायिक ग्रहण करने वाला व्यक्ति अपनी आत्मा को सम्बोधित करके कहता है कि—"हे जीव ! मैं सामायिक करता हूँ।" आत्मा को सम्बोधित करके किया गया यह प्रयोग समस्त शेष क्रियाओ का त्याग करके एक "सामायिक" को क्रिया मे ही उपयोग रखने का सूचित करता है।

शास्त्र द्वारा कथित अनुष्ठान करते समय भी परस्पर एक दूसरे अनुष्ठान का विघात न हो, परन्तु प्रारब्ध क्रिया मे ही उपयोग रहे, वैसा व्यवहार करना चाहिये।

"सामायिक" आदि अनुष्ठान करते समय आत्मा को उसमे ही लीन कर देना चाहिये। उपयोगपूर्वक की गई क्रिया ही भावस्वरूप होती है। उपयोगरहित क्रिया 'द्रव्य क्रिया" कहलाती है।

---

१ स जिणो जिणाइ सयओ सो चेव गुरु गुरूवएसाओ।

"उपदेश पद" मे[1] कहा है कि—"उपयुक्त भावरूप अप्रमाद ही "शुद्ध आज्ञायोग" है, अर्थात् जहाँ-जहाँ उपयोग है, वहाँ-वहाँ जिनाज्ञा की आराधना है और जहाँ-जहाँ उपयोग नही है वहाँ जिनाज्ञा की विराधना है।

साधु-दिनचर्या में भी उपयोग के लिए विशेष कायोत्सर्ग किया जाता है, उसका भी यही रहस्य है।

"उपयोगे धर्म"—यह अत्यन्त प्रसिद्ध पंक्ति भी इसी भाव को सूचित करती है। उपयोग एवं धर्म का कितना प्रगाढ सम्बन्ध है, वह सहज ही समझा जा सकता है।

साधुधर्म हो अथवा श्रावकधर्म, श्रुतधर्म हो अथवा चारित्रधर्म अथवा उसके कोई भी भेद-उपभेद हो जैसे अहिंसा, सयम अथवा तप, दान, शील, तप अथवा भाव ये समस्त धर्म के प्रकार यदि उपयोग से युक्त हो तो परमार्थत धर्मस्वरूप माने जाते हैं।

उपयोग जीव का लक्षण है जो सदा जीव के साथ ही रहता है-परन्तु उक्त उपयोग जब तक अशुद्ध होता है, राग-द्वेष से मलिन बना हुआ होता है, तब तक समस्त शुभ क्रिया निरर्थक है। अनादिकालीन अशुद्ध उपयोग को जो शुभ एवं शुद्ध रूप मे परिवर्तित कर दे उसे "धर्म" कहते हैं। शुभ उपयोग अशुभ उपयोग को दूर करके आत्मा का शुद्ध उपयोग उत्पन्न करता है। सामायिक शुभ उपयोग स्वरूप है जिससे उसके द्वारा अशुभ उपयोग टल जाता है और शुद्ध उपयोग का प्रादुर्भाव होता है।

अशुद्ध उपयोग ही ससार है और सम्पूर्ण शुद्ध उपयोग मोक्ष है। उपयोगयुक्त सामायिक अशुद्ध उपयोग रूप ससार से बाहर निकाल कर आत्मा को शुद्ध उपयोग रूप मोक्ष प्राप्त कराती है।

इस प्रकार आत्मा को लक्ष्य करके किया गया "भन्ते" सम्बोधन उपयोग का विशेष महत्व बताने वाला है।

"भन्ते" पद के द्वारा देवतत्व का महत्व—"भन्ते" (भदन्त) पद से समस्त जिनेश्वर, समस्त सिद्ध भगवान् तथा अतिशय ज्ञानी भगवान् को भी सम्बोधित किया जाता है। भो भो जिनादयो भदन्ता। हे जिनेश्वर आदि भगवन्! मैं आपकी साक्षी से सामायिक ग्रहण करता हूँ।

---

१ एत्तोउ अप्पमाओ भणिओ सव्वत्थ भगवया एवं।

परमात्मा की साक्षी रखने से व्रत मे स्थिरता आती है। सामायिक व्रत ग्रहण करने वाले व्यक्ति को सहज ही ऐसा विचार आता है कि सर्वज्ञ भगवन्तो की साक्षी मे मैंने यह सामायिक स्वीकार की है। अत॰ इसका पालन करने मे मुझे अत्यन्त ही सावधानी रखनी चाहिये, किसी प्रकार का कोई दूषण न लगे उसकी सावधानी रखनी चाहिये। वह इतनी प्रबल श्रद्धा एव दृढता के साथ सामायिक व्रत का उत्तम प्रकार से पालन करने के लिए तत्पर होता है।

चालू व्यवहार मे भी गुरुजनो की साक्षी से उनको देखरेख मे होने वाले कार्य मे किमी प्रकार की कमी रह जाये तो लज्जाजनक माना जाता है। उनके प्रति सम्मान होने से उनका भय भी रहता है। इसी प्रकार से सामायिक व्रत का पालन करने मे तत्पर साधक को ज्ञानी भगवानो से लज्जा एव भीति प्रतीत होती है। इस कारण उत्तम प्रकार से सावधानी-पूर्वक व्रत पालन करने की सक्रिय लगन साधक के हृदय मे निरन्तर रमण करती होनी चाहिये।

सर्वज्ञ वीतराग शासन की ही यह बलिहारी है कि उस शासन-रसिक आराधक को सर्वत्र सब प्रकार से सुरक्षा प्राप्त होती ही रहती है, क्योकि निरतिचारपूर्वक शुभ भाव से सामायिक करने वाले साधक के हृदय मे अनन्तज्ञानी भगवन्तो के प्रति अप्रतिम पूज्य भाव होता है, जिससे वह उनके अनुग्रह का पात्र बना रहता है और परमात्मा की कृपा से बढकर सुरक्षा इस विश्व मे कोई है ही नही।

प्रश्न—व्यवहार मे दो व्यक्तियो के मध्य चलते व्यापार आदि मे दलाल आदि तीसरे मनुष्य की प्रत्यक्ष उपस्थिति होती है। कदाचित् किमी समय यदि सौदे मे कोई आपत्ति उत्पन्न हो तो वह दलाल साक्षी देता है कि मेरी उपस्थिति मे यह सौदा अमुक प्रकार से हुआ था और वह उसके लिए प्रमाण दे देता है। इस कारण लोगो मे अपयश होने के भय से अथवा सज्जन मनुष्यो को लज्जा से भी मनुष्य भूल करने मे हिचकिचाते हैं। जबकि जिनेश्वर भगवान्, सिद्ध अथवा अतिशय ज्ञानी महात्मा तो साधक के दृष्टि-पथ मे आते ही नही हैं, तो फिर उनकी लज्जा अथवा भीति के द्वारा साधक अपनी सामायिक आदि की साधना मे स्थिरता कैसे प्राप्त कर सकता है?

समाधान—सिद्धशिला पर सदा के लिए विराजमान समस्त सिद्ध भगवान तथा कम से कम बीस तीर्थंकर परमात्मा और दो करोड केवली

जो सदा महाविदेह क्षेत्र मे विचरते ही रहते हैं, वे समस्त सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महापुरुष एक साथ विश्व के प्रत्येक चराचर पदार्थ को प्रत्यक्ष रूप से देखते ही रहते हैं।

सामायिक करने वाले साधक को यह वात विदित ही होती है तथा सर्वविरति सामायिक के धारक मुनि तो दिन मे नौ बार "करेमि भन्ते" (सामायिक प्रतिज्ञा) सूत्र का उच्चारण करते हैं, अत उन्हे तो इस वात का ध्यान होता ही है कि अनन्त सर्वज्ञ परमात्मा तो अपनी ज्ञान-चक्षुओं से मेरी सामायिक की साधना प्रत्यक्ष रूप से देख ही रहे हैं। मेरी चर्म-चक्षु चाहे उन अतीन्द्रिय ज्ञानी भगवन्तो को नही देख सकती, परन्तु मुझे प्राप्त श्रुतज्ञान एव श्रद्धा के वल से यह तो अच्छी तरह ज्ञात किया जा सकता है कि मैं सर्वज्ञो की निश्रा मे ही बैठा हुआ हूँ। सर्वज्ञ अपनी ज्ञान-चक्षुओं से मुझे देख रहे हैं। वस, यह ज्वलन्त ज्ञान ही साधक को उनका भय एव लज्जा लगाकर सदा जागृत रखता है और सामायिक आदि की साधना मे स्थिरता लाता है।

आर्य देश का सस्कारी मानव किसी के देखते हुए हिंसा आदि क्रूर पाप-कृत्य करने मे भी सकुचाता है, लज्जा एवं भय का अनुभव करता है। इसी प्रकार से साधु अथवा श्रावक सामायिक आदि आवश्यक धर्म-क्रियाओ मे भूल करते समय केवलज्ञानी भगवानों से लज्जित एवं भयभीत हो तो क्या आश्चर्य है? जिन मनुष्यो को लोगो की लज्जा नही है, पाप का भय नही है, ऐसे निर्लज्ज, निर्दय मनुष्य जिस प्रकार खुले आम क्रूर पाप-कृत्य करने मे तनिक भी नही हिचकिचाते, तनिक भी संकोच का अनुभव नही करते, उसी प्रकार से श्रद्धाहीन व्यक्ति को सर्वज्ञ शास्त्रो के प्रति सच्ची रुचि अथवा सच्ची श्रद्धा नही होने से सर्वज्ञोपदिष्ट सामायिक आदि धर्म की आराधना मे अनेक दोष करने मे भी सर्वज्ञ परमात्मा से लज्जा अथवा भीति नही प्रतीत होती।

वस्तुत तो ऐसे श्रद्धाहीन, मनुष्य धर्म के अधिकारी ही नही हैं। "भन्ते" पद के उपर्युक्त रहस्यार्थ का अपूर्व लाभ श्रद्धाहीन व्यक्ति को कैसे प्राप्त हो सकता है? जिस प्रकार असाध्य रोगी का रोग नष्ट न हो तो उसमे वैद्य अथवा औषधि का कोई दोष नही है, उसी प्रकार से श्रद्धाहीन व्यक्ति को शास्त्र अथवा शास्त्राचार की कोई वात लाभदायक न हो तो उसमे उनका क्या दोष?

जिस व्यक्ति को निर्मल शास्त्र-चक्षु प्राप्त हुए हैं, उसे तो सम्पूर्ण विश्व के समस्त पदार्थ साक्षात् दृष्टिगोचर होते हैं।

परमात्मा का नाम स्मरण करते समय अथवा उनकी पावन प्रतिमा के दर्शन करते समय श्रद्धालु आत्मा तो साक्षात् परमात्मा के दर्शन-मिलन के समान आनन्द का अनुभव करती है। योग्य अधिकारी साधक जब-जब सामायिक को स्वीकार करता है, तब "मैं सर्वज्ञ परमात्मा की साक्षी मे सामायिक कर रहा हूँ" यह भाव सदा उसके हृदय में जीवित होता है।

"भन्ते" अथवा "भगवन्" शब्दो का उच्चारण करते समय साधक का हृदय पूज्यो के प्रति अप्रतिम सम्मान-भाव से झुक जाता है, सर्वज्ञ भगवन्त के साक्षी भाव का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। समस्त मुमुक्षु साधको को "भन्ते" पद से इस महान रहस्य को समझकर जीवन मे उससे साक्षात्कार करने के लिए उत्कठा रखनी चाहिये।

"पाक्षिक सूत्र" मे व्रतो को "आलावा" मे "अरिहन्त सक्खियं सिद्ध", आदि पद वोले जाते हैं, तथा दैनिक आवश्यक आदि क्रियाओ मे तथा "सथारा पोरिसी" मे भी "सिद्ध साख आलोयण" पद का उच्चार करके सिद्ध भगवन्तो की साक्षी मे आलोचना-क्षमापना करने का विधान है।

प्रत्येक आवश्यक आदि क्रियाओ मे "भन्ते" अथवा "इच्छाकारेण सदिसह भगवन् !" आदि पद व्यापक रूप से प्रयुक्त हुए हैं। ये समस्त शास्त्रीय विधान समस्त साधको को साधना के समय सर्वज्ञ भगवानो के नाम-स्मरण, नमस्कार और ध्यान आदि के द्वारा उनका सतत सान्निध्य रखने का गर्भित सूचित करते हैं।

"सामायिक" आदि प्रत्येक धर्मानुष्ठान की आराधना मे परमात्मा की साक्षी की भावना से हृदय उल्लासमय करना चाहिये, जिससे व्रत-पालन मे स्थिरता उत्पन्न होती है।

भन्ते एव सामायिक—"भन्ते"—भदन्त, कल्याणकारी, सुखकारी सामायिक मैं स्वीकार करता हूँ। प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से एकार लाक्षणिक होने से उसका लोप करके, "भन्त सामायिक" सामासिक शब्द प्रयुक्त करके उपर्युक्त अर्थ भी ग्रहण किया गया है।

नाम, स्थापना अथवा द्रव्य सामायिक श्रेयकारक अथवा सुखदायक नही बन सकती, जिससे यहाँ भाव-सामायिक को ग्रहण करने के लिये "भदन्त" विशेषण का उपयोग हुआ है।

प्रश्न—सावद्य व्यापार के त्याग से ही नाम आदि सामायिक का निषेध हो जाता है, क्योकि उसमे सावद्य व्यापार का त्याग सम्भव नही है, अत "भदन्त" का ग्रहण निरर्थक है।

समाधान—सावद्य योग की विरति भी नाम आदि भेद से चार प्रकार की है, उसमे भाव-सावद्य योग विरति के ग्रहण से ही साध्य की सिद्धि हो सकती है। "भदन्त" विशेषण के द्वारा भाव-विरति का ग्रहण होता है। नाम, स्थापना और द्रव्य विरति कल्याणकारी नही है।

"भन्ते सामाइय"—भगवत सम्बन्धी सामायिक – भगवान द्वारा बताई गई सामायिक को मैं स्वीकार करता हूँ, षष्ठी विभक्ति के अन्त मे "भन्ते" पद का अर्थ होता है।

अन्यान्य अनेक दर्शनो मे भी सामायिक—सयम की साधना बताई गई होती है, परन्तु उन सबको छोड़कर मैं तो जिनेश्वर भगवान द्वारा निर्दिष्ट सामायिक को ही स्वीकार करता हूँ, क्योकि मोक्ष-प्राप्ति मे यह सामायिक ही अनन्य हेतु है, अन्य दार्शनिको द्वारा बताई गई एकाकी योग-प्रक्रिया के द्वारा मोक्ष प्राप्त होना असम्भव है।

सामायिक के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त "भन्ते" पद से सामायिक का विशेष महत्व ज्ञात होता है, अर्थात् भन्ते पद से धर्म तत्व का विशिष्ट महत्व बताया जाता है। समस्त धर्मों मे सामायिक धर्म ही श्रेष्ठ है और विश्व का कोई भी धर्म इस जिनभाषित सामायिक धर्म की तुलना नही कर सकता। ऐसा अद्वितीय है यह सामायिक धर्म! सम्पूर्ण विश्व को अभय, सुख एवं शान्ति प्रदान करने वाला होने से यही परम श्रेष्ठ धर्म है। अन्य दर्शनों मे निर्दिष्ट साधना समस्त जीवो को अभय करने मे असमर्थ होने से कल्याणकारी एव मोक्ष साधक नही है।

सुखलिप्सा वाले संसारी जीव अनेक प्रयास करके सुख की खोज करते हैं, परन्तु अन्य जीवो को दु ख एव पीडा देकर प्राप्त किया जाने वाला सुख वास्तविक सुख नही है, अपितु दीर्घकालीन महादु ख का कारण है। सच्चा सुख तो समता है।

अन्य जीवो को पीडित किये बिना और पर-पुद्गल पदार्थ की आशा—अपेक्षा रखे बिना प्राप्त होने वाला सुख ही वास्तविक सुख है। जिनेश्वर भगवान की स्पष्ट आज्ञा है कि, "समस्त जीवो की रक्षा करनी चाहिये, हिंसा का सर्वथा त्याग और अहिंसा को पूर्णत. स्वीकार करना चाहिये। हिंसा से आत्मा विभाव मे रमण करती है। और अहिंसा से स्वभाव मे

रमण करती है। यह विभाव-रमणता सर्वथा त्याज्य है और स्वभाव-रमणता ही उपादेय है।"

विश्व के समस्त जीवो को अभय बनाकर सुखी करने की परमात्मा की आज्ञा का पूर्णत' पालन केवल मानव ही कर सकता है। समस्त जीवो की सदा जीवित रहने की और सुखी रहने की इच्छा को समझकर तदनुरूप व्यवहार करने की बुद्धि एव क्षमता केवल मानव को ही प्राप्त है।

मानव सर्वविरति स्वीकार करके प्रत्येक जीवात्मा को अभय कर सकता है। उपयोग-शून्य सामायिक नाम मात्र की सामायिक है। उक्त सामायिक मोक्ष साधक नही हो सकती।

वास्तविक सुखाभिलाषी मुमुक्षु आत्माओ को जिनेश्वर भगवान द्वारा बताई गई भाव-सामायिक को स्वीकार करके उपयोगपूर्वक उसका पालन एव उसकी रक्षा करनी चाहिये।

सामायिक के द्वारा समस्त जीवो के कल्याण एव सुख को सिद्ध करने की शक्ति प्रकट होती है।

इस प्रकार "भन्ते" पद के द्वारा देव, गुरु, धर्म, आत्मोपयोग एव भाव-सामायिक आदि का महत्व बताया गया है, तथा देव-गुरु के प्रति प्रीति-भक्ति, उनकी आज्ञा का पालन और उससे प्राप्त होने वाली असग दशा को भी गर्भितरूप मे सूचित किया गया है।

इन समस्त बातो पर सूक्ष्म रूप से चिन्तन करने से समस्त जिन-शासन का द्वादशागी का सार "करेमि भन्ते" मे समाविष्ट है, यह स्पष्ट ज्ञात हो सकता है।

सामायिक पद का रहस्य—

"सामायिक" शब्द के विविध अर्थ बताकर शास्त्रो मे "सामायिक" का गूढ रहस्य समझाया गया है जिस पर सक्षिप्त चिन्तन हम यहाँ करेंगे। "समाय" एव "सामाय" पद को स्व अर्थ मे "इक" प्रत्यय लगने से "सामायिक" शब्द बनता है। "सम" एव "साम" शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं।

(१) सम=राग-द्वेष रहित अवस्था।

(२) सम=सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र, मध्यस्थता, समता, प्रशम।

(३) सम=सर्वत्र समान व्यवहार।

साम—(१) समस्त जीवो के प्रति मैत्री भाव, (२) समस्त जीवो को आत्म-वत् मानकर पीडा का परिहार, (३) शान्ति, नम्रता।

आय = प्राप्ति, लाभ।

सम एवं साम की जिसके द्वारा प्राप्ति हो अथवा जिसमे प्राप्ति हो वह "सामायिक" कहलाती है।

"सामायिक" शब्द की अनेक प्रकार से व्युत्पत्ति होती होने से उसमे विविध अर्थ समाविष्ट हैं। सक्षेप मे हम कुछ अर्थ देखे—

सामायिक अर्थात् राग-द्वेष रहित अवस्था।

सामायिक अर्थात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र का पालन।

सामायिक अर्थात् सर्वत्र समान व्यवहार।

सामायिक अर्थात् समस्त जीवो के प्रति परम मैत्री भाव।

सामायिक अर्थात् समता—समभाव की प्राप्ति।

निरुक्त विधि से (सामायिक शब्द की) व्युत्पत्ति करने से सामायिक का यह अर्थ भी होता है कि "साम, सम एव सम्म" इन तीनो को "इक" अर्थात् आत्मा मे प्रवेश कराना "सामायिक" है।

तीन प्रकार की सामायिक—

(१) साम—स्व[1] आत्मा की तरह पर को कष्ट नही पहुँचाना।

(२) सम—राग-द्वेष के जनक प्रसगो मे भी मध्यस्थ रहना, अर्थात् सर्वत्र आत्मा का समान व्यवहार।

(३) सम्म—सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परस्पर आयोजन एकात्म होना अर्थात् तीनो की एकता होना।

ये तीनो आत्मा के अतीन्द्रिय परिणाम हैं, उनका स्वरूप स्पष्ट रूप से ज्ञात हो, अतः द्रव्य के साथ उनकी तुलना की जाती है—

साम—मधुर परिणामस्वरूप है, जैसे शक्कर आदि द्रव्य, और वह सम्यक्त्व सामायिक का सूचक है।

सम—स्थिर परिणामस्वरूप है, जैसे तुला (तराजू), और वह श्रुत सामायिक की द्योतक है।

सम्म—तन्मय परिणामस्वरूप है, जसे क्षीर-शक्कर का मिलन, और वह चारित्र सामायिक का सूचक है।

---

१ (क) आत्मोपमया परेषा दु.खस्याकरणं—"साम"

(ख) रागद्वेष मध्यवर्तित्वम्, सर्वत्रात्मनस्तुल्यरूपेण वर्तनम्—"सम"

(ग) सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र त्रयस्य परस्पर योजन—"सम्म"

इन तीनो—साम, सम और सम्म—परिणामो को (सूत के धागे मे मोती पिरोने की तरह) आत्मा मे पिरोना, प्रकट करना ही सामायिक है। समता परिणाम स्वरूप सामायिक अतीन्द्रिय होने से केवल अनुभवगम्य है, जिसकी प्राप्ति से आत्मा को जो आनन्द प्राप्त होता है, उसके तारतम्य से उसके अनेक भेद किये जा सकते हैं।

(१) साम सामायिक—साम[1] मधुर परिणामी सामायिक। साम अर्थात् मैत्री भाव। समस्त जीवो के प्रति मैत्री भाव प्रकट करने से अपने सुख-दु ख की तरह अन्य जीवो के सुख-दु ख का विचार भी उत्पन्न होता हैं। अपना दु ख निवारण करने के साथ अन्य व्यक्ति के दु ख का निवारण करने का भी प्रयत्न होता है, तथा दूसरो के अपराध क्षमा करने और अपने अपराधो की क्षमा याचना करने की मन मे प्रेरणा उत्पन्न होती है।

"योगदृष्टि समुच्चय" मे बताई गई पाँच दृष्टियो मे प्रकट होने वाले समस्त गुणो, योग के बीजो का भी इस अवस्था मे आविर्भाव होता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, इच्छा एव प्रवृत्तियोग, अध्यात्म एव भावना योग तथा प्रीति, भक्ति, अनुष्ठान आदि का अभ्यास किया जाये तो ही उपर्युक्त "मधुर परिणाम" स्वरूप सामायिक प्रकट होती है, अथवा प्रकट सामायिक स्थायी होकर उत्तरोत्तर विकसित होती रहती है।

शास्त्रो मे कहा भी है कि "सामायिक" द्वादशागो का सक्षिप्त रूप है, षड् आवश्यक का मूल है। शेष आवश्यक सामायिक के ही अग हैं, अर्थात् एक सामायिक मे शेष आवश्यक के अनुष्ठान भी गौण भाव से समाविष्ट होते हैं। श्री आचाराग सूत्र मे सामायिक का स्वरूप पाँच आचार आदि भेदो के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

दया-प्रधान जिन-शासन समस्त जीवो को "अभय" करने की सर्व प्रथम शिक्षा देता है।

"शस्त्र परिज्ञा" अध्ययन मे कहा भी है कि "समस्त जीवो को आत्मवत् मानकर उनकी भी रक्षा कर। जिस प्रकार तू अपनी आत्मा को दु ख से मुक्त करके सुखी करना चाहता है, उसी प्रकार से तू अन्य समस्त स्थावर-जगम जीवो को भी दु ख से मुक्त कर। जिस प्रकार तुझे मृत्यु का

---

१ महुर परिणाम साम, सम तुला सम्म खीरखड जुइ।
दोरे हारस्स चिई इगमेवाइ तु दव्वम्मि ॥ (आवश्यकनिर्युक्ति)

भय भयभीत करता है, उसी प्रकार से समस्त जीव भी मृत्यु से भयभीत होते हैं। अत. किसी भी जीव की हिंसा हो अथवा उसे पीड़ा हो ऐसी प्रवृत्ति तू मत कर।"

अन्य जीवो को भय मुक्त करने से ही "अभय" प्राप्त हो सकता है। जन्म-मरण के भय से मुक्त होने के अभिलाषी व्यक्ति को अन्य जीवो के जन्म-मरण का निमित्त वनना छोडना ही पडेगा, और यह अहिंसा पूर्णतः पालन किये विना असम्भव है। अहिंसा, अभय, अमारी, मैत्री करुणा, क्षमा ये सब अहिंसा के पर्यायवाची हैं। समस्त जीवों को अभय करके अभय होने के लिये ही अहिंसा को प्रधानता दी गई है। अहिंसा के पालन से चित्त निर्मल होता है, निर्मल चित्त मे आत्मज्ञान प्रकट होता है और आत्मज्ञान से समभावरूप सामायिक प्राप्त होती है तथा आत्मा मे शुद्ध स्वरूप की अनुभूति भी इस अवस्था मे ही होती है। इस सामायिक मे चित्त की "श्लिष्ट अवस्था" होती है, तथा मनोगुप्ति का प्रथम भेद 'विमुक्त कल्पना—अशुभ कल्पना से विमुक्त मन" भी घटित किया जा सकता है।

शास्त्रों मे "चेतना" को जीव का सर्वसामान्य लक्षण गिना गया है। उसकी सत्ता सिद्ध एव ससारी समस्त जीवों पर सर्वदा होती है। सिद्ध भगवानों मे यह "चेतना" पूर्ण शुद्ध (स्वरूप को प्राप्त) होती है, जबकि संसारी जीवों की चेतना के तीन प्रकार हैं।

चेतना के तीन प्रकार—

(१) कर्म चेतना—द्रव्यकर्म—ज्ञानावरणीय आदि, भावकर्म रागद्वेष आदि परिणाम।

(२) कर्मफल चेतना—सुख दु ख का अनुभव।

(३) ज्ञान चेतना—सच्चिदानन्दमयस्वरूप, उपयोगात्मक आत्म-परिणाम. कर्म का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान चेतना के अनेक भेद किये जा सकते हैं। समता परिणाम स्वरूप सामायिक भी "ज्ञान चेतना" स्वरूप है। साम, सम और सम्म रूप तीनो प्रकार की सामायिक का 'ज्ञान चेतना" में अन्तर्भाव हो जाता है।

(२) "सम" सामायिक—सम—तुल्य परिणामस्वरूप सामायिक, प्रत्येक प्रसंग मे अर्थात् राग-द्वेष की भावना उत्पन्न होने की सम्भावना हो अथवा मान-अपमान के सयोग उत्पन्न होने की सम्भावना हो उस समय चित्त को मध्यस्थ रखना, शत्रु-मित्र, तृण-मणि अथवा सुख-दुःख के प्रति

भी समभाव एव समदृष्टि रखने का नाम ही तुल्य-परिणामरूप सामायिक है।

इष्ट-अनिष्ट पदार्थों के सयोग मे होती राग-द्वेष की वृत्तियाँ अज्ञान के कारण होती हैं। श्रुतज्ञान के—सम्यग्ज्ञान के सतत अभ्यास से विवेक-दृष्टि जागृत होने पर पुद्गल पदार्थों मे होने वाली इष्ट-अनिष्ट की कल्पना दूर हो जाती है और चित्त समवृत्ति धारण करता है, जिसके द्वारा शुभ ध्यान मे स्थिरता आती है और ध्यान मे एकाग्रता आने से निश्चल-अनाहत समता प्रकट होती है।

इस प्रकार श्रुतज्ञान के अभ्यास से ध्यान की वृद्धि और ध्यान से समता की वृद्धि होती है। ऐसे समता के परिणाम को आत्मा मे प्रविष्ट कराने को "सामायिक" कहते हैं। यहाँ वचन अनुष्ठान और शास्त्रयोग की प्रधानता होती है। कहा भी है कि शास्त्र के समक्ष जाने से अर्थात् शास्त्रानुसार अनुष्ठान करने से वीतराग परमात्मा की आज्ञा-पालन-स्वरूप परम-भक्ति होती है, जिसके प्रभाव से समस्त योगो की सिद्धि होती है, समरस भाव प्राप्त होता है उसे "सामायिक" भी कहते हैं, वही समतायोग है। चित्त की तन्मयता और मनोगुप्ति का दूसरा प्रकार (समता मे प्रतिस्थापन) भी इस "सामायिक" वाले पर घटित हो सकता है। "योगसार" मे भी कहा है कि उत्तम योगियो को सदा समस्त प्रकार की मानसिक, वाचिक अथवा कायिक प्रवृत्तियो मे मन, वचन और काया से साम्य रखना चाहिए, क्योकि समस्त शास्त्रो के अध्ययन एव श्रमण जीवन के समस्त सदनुष्ठानों आदि का विधान "समभाव" प्राप्त करने के लिये ही है।

जिस प्रकार चन्दन आदि वृक्षो का छेदन किया जाये तो वे क्रोधित नही होते और घोडो आदि का आभूषणो से शृगार किया जाये तो वे प्रसन्न नही होते, उसी प्रकार से मुनि भी सुख-दुःख के प्रसगो मे राग-द्वेष नही करते, तब समता प्रकट होती है।

जिस प्रकार सूर्य मनुष्यो को उष्णता प्रदान करने के लिये तथा चन्द्रमा सन्ताप नष्ट करके शीतलता प्रदान करने के लिए श्रम करता है, उसी प्रकार मुनिगण को समता प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

मैत्री आदि भावना मे लीन बना मुनि अपनी आत्म-सत्ता को समस्त जीवो से अभिन्न जानकर परम शान्तरस मे तन्मय रहता है, जिससे उसमें कदापि सक्लेश उत्पन्न नही होता, अर्थात् समस्त आत्माओ के साथ चेतनता से समानता की भावना से युक्त मुनि उन्हे अपनी आत्मा के समान मानता

है, दूसरों के सुख-दु.खों को वह अपने सुख-दु ख समझकर किसी को भी तनिक भी पीड़ा हो जाये वैसी वह अपने मन, वचन, काया से कोई प्रवृत्ति नही करता, अन्य व्यक्तियो से वैसी कोई प्रवृत्ति नही कराता और यदि कोई वैसी प्रवृत्ति करता हो तो उसे अनुमोदन नही देता ।

इस प्रकार समस्त जीवो के साथ आत्मवत् प्रदर्शन का नाम "सम" है । ऐसे परिणाम आत्मा मे प्रकट कराने को "सामायिक" कहते हैं । इस सामायिक का धारक मुनि समस्त धन-धान्य आदि अचेतन पदार्थों के प्रति भी उदासीन होता है, तथा समस्त नयो के प्रति मध्यस्थ होता है ।

प्रत्येक नय स्व-स्व विषय का प्रतिपादन करने में तत्पर होता है जिससे वह सत्य होता है और अन्य नयों की मान्यता से तुलना करने में असत्य सिद्ध होता है । ऐसे परस्पर विरोधी नयो के विषय में भी जो निष्पक्ष होता है, वह महामुनि "मध्यस्थ" कहलाता है ।

माध्यस्थ का स्वरूप – मिथ्या-मिथ्या तर्क-वितर्क करने से चित्त अधिक चंचल होता है, तुच्छ कदाग्रही व्यक्ति असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिए अनेक कुयुक्तियो का प्रयोग करता है, स्वय सत्य की ज्योति से वचित रहता है और भोले मनुष्यों को भी भ्रमित करने का पाप सिर पर लेता है, परन्तु मध्यस्थ व्यक्ति का चित्त स्थिर होता है । वह सदा युक्ति का ही अनुकरण करता है अर्थात् वह युक्ति-संगत तर्क ही स्वीकार करता है । तत्व-विषय मे वह कदापि दुराग्रह नही करता ।

जिस प्रकार नदियो के समस्त भिन्न-भिन्न मार्ग अन्त मे सागर मे विलीन हो जाते हैं, तव उनमे किसी प्रकार की भिन्नता नही रहती, कोई भेद नही रहता, उसी प्रकार से अपुनर्वन्धक, सम्यग्दृष्टि, देशविरति अथवा सर्वविरति (जिनकल्पी अथवा स्थविरकल्पी) आदि मध्यस्थ पुरुषों के भूमिका-भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले मार्ग भी परब्रह्म (केवलज्ञान) को प्राप्त कराने मे सहायक होते हैं, तब वे एक हो जाते हैं, इस कारण मध्यस्थ मुनि को समस्त मुक्ति साधक मार्गो के प्रति समभाव होता है ।

मध्यस्थ मुनि राग-वश अपने मत के शास्त्र स्वोकार नही करता अथवा द्वेष-वश वह अन्य मत के शास्त्रों का बहिष्कार नही करता, परन्तु मध्यस्थ भाव से उसे जो शास्त्र अथवा तत्व युक्तिसंगत (सुसंगत) प्रतीत होते हैं उन्हे ही वह स्वीकार करता है । कहा भी है कि "समस्त नयों का परस्पर अनेक प्रकार का विरोधी वक्तव्य सुनकर समस्त नयो से समस्त विशुद्ध तत्व को ग्रहण करने वाला मुनि चारित्र-गुण में लीन होता है ।"

(अनुयोग द्वार)

भिन्न-भिन्न नय परस्पर वाद-विवाद की विडम्बना से व्याकुल होते हैं, परन्तु मध्यस्थता के सुख का आस्वादन करने वाला ज्ञानी समस्त नयो का आश्रित होता है।

विशेष रहित सामान्य से निर्दिष्ट वचन एकान्त से अप्रमाणभूत अथवा एकान्त से प्रमाणभूत नही है, जिससे पर-मत के सिद्धान्तो के सद्वचन भी विषय के परिशोधन से प्रमाणभूत हो सकते हैं।

"षोडशक" मे भी कहा है कि अन्य शास्त्रो के द्वारा प्ररूपित विषयो से भी द्वेष करना उचित नही है, परन्तु उक्त विषय पर यत्नपूर्वक चिन्तन करना चाहिये, क्योकि जिन-प्रवचन से भिन्न अन्य दर्शनो की समस्त मान्यताएँ सद्वचन नही है, परन्तु जो मान्यताएँ प्रवचन के अनुसार होती हैं वे ही सद्वचन हैं। जिस प्रकार अन्य दर्शन का वचन विषय परिबोधक नय से योजित हो तो वह भी अप्रमाणभूत हो सकता है। इस प्रकार स्याद्वाद की योजना से समस्त नयो का रहस्य ज्ञात होना है। जो व्यक्ति सिद्धान्तो का रहस्य ज्ञान किये विना केवल सूत्र क अक्षर ज्ञान का ही अनुकरण करता है, उसका तप, सयम आदि अनुष्ठान प्राय· अज्ञान-तप ही माना जायेगा।

समस्त नयो के ज्ञाता मुनि निश्चय, व्यवहार अथवा ज्ञान-क्रिया के विषय मे एक पक्षीय आग्रह को छोड कर ज्ञान-गरिष्ठ शुद्ध भूमिका पर आरूढ होकर केवल पूर्ण स्वरूप का लक्ष्य रखकर परमानन्द का अनुभव करते हैं। इस प्रकार समस्य नय विषयक माध्यस्थ भो चित्त को प्रशान्त करने मे सहायक होते हैं।

आत्म-चिन्तन एव कर्म-विपाक के चिन्तन से भी समभाव प्राप्त किया जा सकता है। विश्व मे दृष्टिगोचर होती विविधता एव विचित्रता का कारण केवल कर्म है। प्रत्येक जीव स्वकृत कर्मवश होकर शुभ-अशुभ फल भोगता है। कर्म परतन्त्र जीवो के प्रति मध्यस्थ पुरुष कदापि राग अथवा द्वेष नही रखते, परन्तु कर्म की विचित्रता का विचार करके सदा समभाव रखते हैं।

कर्माधीन जीव को इस ससार मे राग द्वेष की वृत्तियाँ उत्पन्न हो जायें ऐसे अनेक प्रसग एव निमित्त प्राप्त होते हैं, परन्तु यदि चित्त मे शास्त्र ज्ञान के भाव भरे हुए हो, सद्गुरु की उपासना करके विधिपूर्वक शास्त्राध्ययन किया हुआ हो, उसके रहस्यो का गूढ ज्ञान प्राप्त किया हुआ हो तो कोई भी प्रसग अथवा निमित्त चित्त को चचल बनाने मे समर्थ नही होता।

जिनके चित्त शास्त्रों के अध्ययन, मनन एव परिशीलन से निर्मल हो गये हैं वे मुनि जड एव चेतन पदार्थों के विविध स्वरूपों एव उनके स्वभाव से परिचित होते हैं, जिससे वे इष्ट-अनिष्ट पदार्थों के सयोग-वियोग मे सन्तुलन बनाये रख सकते हैं, मध्यस्थता को स्थायी रख सकते हैं।

आगम सम्बन्धी ज्ञान से परिणत बने मुनियो की चित-वृत्ति अत्यन्त निर्मल एव स्थिर होती जाती है, जिससे वे आत्मा एवं परमात्मा के ध्यान में तन्मय हो सकते हैं और ऐसे ध्यानमग्न मुनि को समता प्राप्त होती है।

ध्यानाध्ययनाभिरति प्रथम प्रश्चात् तु भवति तन्मयता।
सूक्ष्मार्थालोचनया सवेग स्पर्शयोगश्च ॥—(षोडषक)

संयम अंगीकार करने वाले साधु की सर्वप्रथम शास्त्राध्ययन और ध्यान-योग मे निरन्तर प्रवृत्ति होती है। तत्पश्चात् वह दोनो मे उत्तरोत्तर तन्मय होता रहता है, तथा "तत्वार्थ" के सूक्ष्म चिन्तन से तीव्र सवेग एव स्पर्शयोग भी प्रकट होता है।

इस प्रकार समपरिणामरूप सामायिक में शास्त्र योग (वचन अनुष्ठान) एव ध्यानयोग की प्रधानता होती है, क्योकि शास्त्राध्ययन एव ध्यानाभ्यास के बिना तात्विक समता प्रकट नही होती।

अध्यात्म एवं योगविषयक शास्त्रो के अध्ययन, मनन से समस्त जीवो के प्रति समानता एवं आत्मा के पूर्ण शुद्ध स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है जिससे उसे आत्मसात करने की कला प्राप्त होती है। आगम सम्बन्धी ज्ञान से द्रव्यानुयोग विषयक सूक्ष्म तत्व-दृष्टि प्राप्त होने पर धर्म-ध्यान एव शुक्लध्यान की क्षमता प्रकट होती है।

स्याद्वाद एव कर्मवाद के बोध से समस्त जीवो एव समस्त दर्शनो के प्रति समदृष्टि एव ससार की विविध विचित्रताओ के मूलभूत कारणों का ज्ञान होने पर सत्यदृष्टि खुलती है।

तराजू के दोनो पलडों के समान सर्वत्र, सर्वदा समदृष्टि एव सम-वृत्ति प्रकट करने के लिये सत्शास्त्रो के अध्ययन, मनन एव ध्यान का सतत सेवन करना आवश्यक है।

शास्त्रोक्त सदनुष्ठान के सेवन से अरिहन्त परमात्मा की आज्ञा का पालन होता है, जिसके द्वारा समस्त ध्यान आदि कार्यों की सिद्धि होती है।

कहा भी है कि "आगम की आराधना से ही श्रुत एवं चारित्र-धर्म प्राप्त होता है। शास्त्र विरुद्ध व्यवहार से अधर्म होता है।"

धर्म का परम रहस्य, सर्वस्व सार अथवा धर्म की मूलभूत नीव एकमात्र "जिनागम" है। जिनागम द्वारा बताई राह पर प्रयाण किये बिना समता अथवा मुक्ति कदापि प्राप्त नही हो सकती।

प्रश्न—समस्त अनुष्ठानो को गौण मान कर आगम को इतनी अधिक प्रधानता देने का क्या कारण है ?

समाधान—इस विश्व मे एक जिनागम के द्वारा ही समस्त भव्यात्माओ को इतनी भव्य प्रेरणा प्राप्त होती है कि जिससे भव्य जीव शुभ प्रवृत्ति करने और अशुभ (हिंसा आदि) से निवृत्त होने का प्रयास करते हैं। शुभ के लिए प्रेरक और अशुभ से निवर्तक होने से "जिनागम" को प्रधानता दी गई है।

प्रश्न –"जिनागम" की इतनी अपूर्व महिमा क्यो है ?

समाधान—"जिनागम" तत्त्वत जिनस्वरूप है, जिनेश्वर की वाणी (उपदेश) जिनेश्वर तुल्य है। उसकी आराधना, अर्थात् आगम-कथित अनुष्ठान के सेवन से ही समस्त प्रकार की सिद्धियाँ सिद्ध होती हैं। इस प्रकार की अटूट श्रद्धा से सम्मानपूर्वक शास्त्र वचनो का पालन करने से अपने हृदय में जिन-वचन के स्वरूप मे तत्त्वत जिनेश्वर भगवान ही विराजमान होते हैं।

अचिन्त्य चिन्तामणि जिनेश्वर भगवान ही समस्त आत्माओ के समस्त शुभ मनोरथ पूर्ण करने वाले हैं। उनके द्वारा कथित आगम-ग्रन्थो के अनुसार जीवन यापन करने वाले सचमुच जिनेश्वर भगवान के आज्ञा-पालक हैं। जिनाज्ञा के पालक भव्यात्मा को आगम एव उनके प्रणेता के प्रति अखण्ड आदर-भाव होने से "समरस" की प्राप्ति होती है जो योग-शास्त्र मे "समापत्ति" कहलाती है।

"समापत्ति" के समय ध्याता को ध्यान के द्वारा ध्येय के साथ तन्मयता हो जाती है, "मुझमे भी ऐसा ही परमात्म स्वरूप विद्यमान है" कि "वह परमात्मा मैं ही हूँ" इस प्रकार के भेदरहित भाव से युक्त साधक को ही समापत्ति (समरस) की प्राप्ति होती है, जो महायोगियो की माता कहलाती है और वह मोक्ष-सुख के अपूर्व फल का उपहार प्रदान करने वाली है।

यह "समापत्ति" (समरस) "सम सामायिक" स्वरूप है। उसके निरन्तर सेवन से अनालम्बनयोगरूप "सम सामायिक" प्रकट होती हैं जिसके द्वारा क्रमश केवलज्ञान एव मोक्ष-पद प्राप्त होता है।

(३) सम्म सामायिक का स्वरूप—सम्यक् परिणाम स्वरूप इस सामायिक मे सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र का परस्पर सम्मिलन होता है। दूध मे शक्कर की भांति आत्मा मे रत्नत्रयी का एकीकरण होना ही "सम सामायिक" है।

उपर्युक्त साम एव सम परिणाम रूप सामायिक के सतत अभ्यास से ही इस प्रकार की "स्वभाव तन्मयता" प्रकट होती है, जिसे चारित्र समाधि अथवा प्रशान्तवाहिता आदि नामो से सम्बोधित किया जा सकता है।

इस सामायिक मे शान्ति (समता) का अस्खलित प्रवाह होने लगता है, चन्दन की सुगन्ध की तरह समता आत्मसात् हो जाती है।

कहा भी है कि "जिस मुनि को आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दशन और विशेष ज्ञान हुआ हो अर्थात् "मेरी आत्मा भी अनन्त ज्ञान आदि गुण-पर्यायो से युक्त है।" इस प्रकार की श्रद्धा और ज्ञान प्राप्त होने के साथ आत्म-स्वभाव में स्थिरता, रमणता, तन्मयता प्राप्त हुई हो उसे ही आत्मिक आनन्द की अनुभूति होती है और उसे ही "सम्म सामायिक" प्राप्त हुई होती है।"

योग की सातवी और आठवी दृष्टि में प्राप्त होने वाले समस्त गुण इस सामायिक की भूमिका को अधिक स्पष्ट रूप से समझाने मे सहायक होते हैं। ध्यान की प्रीति, प्रतिपत्ति, शमयुक्तता, समाधि-निष्ठता, असग अनुष्ठान, आसग आदि दोषो का अभाव, चन्दन-गन्ध सदृश सात्मीकृत प्रवृत्ति, निरतिचारिता आदि सद्गुण भी इस सामायिक के धारक साधक को प्राप्त हो चुके होते है।

ज्ञान-सुधा के सागर तुल्य, परब्रह्म, शुद्ध ज्योतिस्वरूप, आत्म-स्वभाव मे लीन मुनि को अन्य समस्त रूप-रस आदि पौद्गलिक विषयो की प्रवृत्ति विष के समान भयकर एव अनर्थकारी प्रतीत होती है।

एक वार अन्तरग सुख का रसास्वादन करने के पश्चात् बाह्य सुख, समृद्धि, सिद्धि एव ख्याति की प्रवृत्ति के प्रति उदासीनता हो जाती है।

विश्व के समस्त चराचर पदार्थों का स्याद्वाद दृष्टि से अवलोकन करने वाला आत्म-स्वभाव मे मग्न मुनि किसी पदार्थ का कर्त्ता नही होता, केवल उसकी साक्षी होती है, अर्थात् तटस्थता से वह समस्त तत्वो का ज्ञाता होता है, परन्तु वह कर्त्ता होने का अभिमान नही करता। "विश्व

का प्रत्येक द्रव्य स्व-स्व परिणाम का ही कर्त्ता है, परन्तु पर-परिणाम का कोई कर्त्ता नही है।" इस भावना से समस्त भावो का कर्तृत्व मिटाकर साक्षी भाव रखने का अभ्यास किया जा सकता है।

सम्म सामायिकवान् साधु के चारित्र-पर्याय की ज्यो-ज्यो वृद्धि होती जाती है, त्यो त्यो उसके चित्त-सुख (तेजोलेश्या) की मात्रा मे भी वृद्धि होती जाती है। वर्ष भर के दीक्षा पर्याय वाले मुनि का आत्मिक सुख (समता सुख) अनुत्तरवासी देवो के दिव्य सुख को भी मात करने वाला विशिष्ट कोटि का होता है।

स्वयभूरमण समुद्र के साथ प्रतिस्पर्द्धा करने वाले समता रस के सागर मे डुबकियाँ लगाते मुनि की उपमा देने योग्य कोई पदार्थ इस विश्व मे विद्यमान नही है। ऐसा निरुपम है यह समता सुख और समता का रसास्वादन करने वाले मुनि का जीवन।

इस सामायिक मे "सामर्थ्य योग" एव "असग अनुष्ठान" की प्रधानता होती है।

सामायिक भाव मे मुनिगण ज्ञानामृत का पान करके, क्रियारूपी कल्पलता के मधुर फलो का भोजन करके तथा समता भावरूपी ताम्बूल का आस्वादन करते हुए सदा परम तृप्ति अनुभव करते हैं। इस सामायिक मे चारित्र प्रधान होता है। तन्मयता स्वरूप इस सामायिक मे "निरालम्बन योग" का अन्तर्भाव है।

"योगविंशिका" ग्रन्थ मे निरालम्बन योग विषयक विस्तृत विवेचन है, जिसमे से तनिक चिन्तन हम यहाँ करेंगे।

"योगविंशिका" मे अनालम्बन योग—अरूपी सिद्ध परमात्मा के केवल-ज्ञान आदि गुणो के साथ समापत्तिरूप ध्यान सूक्ष्म एव अतीन्द्रिय होने से "अनालम्बन योग" है।

"योगविंशिका" के विवरण मे पूज्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज इसी विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—

समापत्ति अर्थात् ध्याता, ध्येय एव ध्यान की एकता।

ध्याता अन्तरात्मा है, ध्येय अरिहन्त, सिद्ध परमात्मा के केवलज्ञान आदि गुण हैं और ध्यान विजातीय ज्ञानान्तर रहित सजातीय ज्ञान की धारा है। इन ध्याता आदि तीनो की एकता समापत्ति अर्थात् तन्मयता रूप ध्यान (योग) है, यही "अनालम्बन योग" कहलाता है।

जैन परिभाषा में योग और ध्यान प्रायः एक ही अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं।

यहाँ ध्येय-विषयक आलम्बन दो प्रकार का होने से ध्यान के भी मुख्यतः दो भेद बताये गये हैं—(१) आलम्बनध्यान और (२) निरालम्बन ध्यान।

आलम्बन के मुख्य दो भेद हैं—(१) रूपी और (२) अरूपी।

(१) रूपी आलम्बन—इन्द्रियगोचर हो सके ऐसी स्थूल वस्तु जो आँखो से देखी जा सके जैसे—जिन-प्रतिमा, समवसरण मे स्थिर जिनेश्वर भगवान उनका ध्यान "रूपी आलम्बन" है। उसके अधिकारी चतुर्थ से छठे गुणस्थानक वाले जीव हैं।

(२) अरूपी आलम्बन—इन्द्रियो को अगोचर सूक्ष्म वस्तु जो आँखों से देखी न जा सके जैसे—केवलज्ञान आदि गुण, और उनका ध्यान "निरालम्बन" योग है।

ज्ञान आदि गुणो का आलम्बन सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय होने से उसे "निरालम्बन" कहते हैं। इसके अधिकारी सातवे से बारहवे गुणस्थानक वाले साधु भगवान होते हैं।

दूसरे प्रकार से निरालम्बन योग—ससारी व्यक्ति के औपाधिक स्वरूप को त्याग कर स्वाभाविक स्वरूप का परमात्मा के साथ तुलनात्मक ध्यान करना भी "निरालम्बन योग" है।

निरालम्बन ध्यान आत्मा के तात्विक स्वरूप को देखने की इच्छा, अखण्ड लालसा स्वरूप है, अथवा परमात्म-तत्व के दर्शन की तीव्र इच्छा अथवा आत्म-साक्षात्कार की अदम्य लगन स्वरूप है।

"षोडशक" मे भी कहा है कि, "जब तक साक्षात् परमात्मा के दर्शन न हो तब तक साधक की सामर्थ्ययोग के द्वारा परमात्मा-दर्शन की असंगभाव पूर्वक जो तीव्र अभिलाषा होती है उसे "अनालम्बन योग" कहते हैं। यद्यपि उस समय परमार्थ से तो साधक की परमात्म-तत्व मे स्थिरता नही होती, फिर भी ध्यान के द्वारा परमात्म-तत्व के दर्शन की प्रवृत्ति चलती रहती है और सर्वोत्तम योग निरोधरूप अवस्था से पूर्व उसकी उपस्थिति अवश्य होती है, अत वह "अनालम्बन योग" कहलाता है, जो अरिहन्त परमात्मा के सालम्बन ध्यान का प्रधान फल है।

"सतत अभ्यास के परिणाम मे यह सालम्बन ध्यान जब परिणत

होता है अर्थात् प्रकर्ष कोटि का होता है, तब साधक की आत्मा पाप-रहित, मोहरहित एवं शुक्ल (निर्मल) ज्ञानोपयोग युक्त होती है, जिससे वह मुक्ति के सर्वथा समीप होती है, तथा फलावचक योग के प्रभाव से "प्रातिभज्ञान" प्राप्त होने से तत्वदृष्टियुक्त होती है।"

इस सालम्बन ध्यान को "अपरतत्व" (अपरब्रह्म) भी कहते हैं, जिसके बल से परतत्व-सिद्धस्वरूप प्रकट होता है।

ध्यान आदि साधना मे अहर्निश तत्पर रहने वाले समस्त योगियो को इस सालम्बन ध्यान रूप अपरतत्व के प्रभाव से ही "परतत्व" प्राप्त होता है, उसके बिना नही हो सकता।

जिस परतत्व-सिद्धस्वरूप की अपूर्व महिमा है. अचिन्त्य प्रभाव है, वही सारभूत सत्य है, प्रकृष्ट है, महान हैं। सिद्धस्वरूप के दर्शन से समस्त वस्तुओ के वास्तविक दर्शन होते हैं और उसके प्रभाव से परतत्व विषयक ध्यान रूप 'अनालम्बनयोग" की भी तीनो लोको मे प्रधानता (प्रकृष्टता) है, अर्थात् अनालम्बन योग तुल्य ससार मे अन्य कोई श्रेष्ठ योग नही है, वही समस्त योगो का सम्राट है।

इस प्रकार परमात्मा के सालम्बन ध्यान के प्रकृष्ट फल के रूप मे जीव को प्रातिभज्ञान एव तत्व दर्शन (आत्मानुभव) होता है, जिसके योग से क्रमश अनालम्बनयोग, केवलज्ञान और सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है।

"अनालम्बनयोग" धारावाही प्रशान्तवाहिता नामक चित्त है और वह यत्न के अतिरिक्त स्मरण (स्मृति) की अपेक्षा से स्वरस (सहज स्वभाव) से ही सदृश धारा मे प्रवृत्त होता है—यह समझें।"

—(ज्ञानसार, स्वोपज्ञ भाषार्थ)

पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने उपर्युक्त पक्तियो मे "अनालम्बन योग" को स्पष्ट किया है।

अनालम्बन योग असग अनुष्ठानस्वरूप है जो प्रीति, भक्ति और वचन अनुष्ठान के सतत अभ्यास से अर्थात् सालम्बन ध्यान के सतत अभ्यास से प्रकट होता है।

असग अनुष्ठान का लक्षण बताते हुए कहा भी है कि अत्यन्त अभ्यास के द्वारा चन्दन और सुगन्ध की तरह सहज भाव से, अर्थात् प्रयत्न किये बिना जो क्रिया की जाती है वह "असग अनुष्ठान" है। "प्रयत्न किये बिना" का अर्थ यह है कि जिस प्रकार प्रथम डण्डे से चलने वाला चक्र

फिर डडे के अभाव में भी पूर्व वेग के सस्कार से सतत भ्रमण करता रहता है; उसी प्रकार से आगम के सम्बन्ध से प्रवर्तित वचन अनुष्ठान के सतत अभ्यास से जब आगम के संस्कार अतिरूढ (स्वभावगत) हो जाते हैं, तब शास्त्र-वचनो की अपेक्षा के बिना भी सहज भाव से प्रवृत्ति होती है, वही "असग अनुष्ठान" है। उस समय चित्त की स्वस्थता तेल की धारा की तरह प्रशान्त होती है, अत बिना प्रयत्न के केवल पूर्व स्मृति की अपेक्षा से सहज भाव से सुविशुद्ध भावों का धाराबद्ध प्रवाह होता है। योग-शास्त्रो मे चित्त की ऐसी अवस्था को "प्रशान्तवाहिता" कहते हैं।

"सम्म सामायिक" भी सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण की तन्मयता का आत्म-परिणाम है और दूध मे डाली गई शक्कर की एकरूपता की तरह ये तीनो गुण परस्पर एक दूसरे से एकरूप होकर मिल जाने से "सम्म सामायिक" प्राप्त होती है।

अनालम्बन योग के समस्त लक्षण "सम्म सामायिक" पर भी सापेक्षता से घटित किये जा सकते हैं, जिसके पूर्ववर्ती सालम्बन ध्यान आदि का अन्तर्भाव "सम सामायिक" में किया जा सकता है, क्योंकि उसमे शास्त्रयोग तथा ध्यानयोग की प्रधानता होती है।

(३) सम्म सामायिक एव अनुभवदशा—प्रातिभज्ञान अनुभवदशा-स्वरूप है। ध्यानयोग एव श्रुतज्ञान के सतत अभ्यास से जो प्रातिभज्ञान-स्वरूप आत्म-ज्योति प्रकट होती है उसे "अनुभव" भी कहते हैं।

जिस प्रकार दिन और रात्रि से "सध्या" भिन्न है, उसी प्रकार से प्रातिभ अनुभव ज्ञान केवलज्ञान एवं श्रुतज्ञान से भिन्न है, अर्थात् मति-श्रुत की उत्तरभावी और केवलज्ञान की पूर्वभावी आत्मज्योति को "अनुभव" कहते हैं।

"षोडषक" मे भी कहा है कि[1], परमात्मा का सालम्बन-ध्यान जब पराकाष्ठा पर पहुँचता है, तब उसके फलस्वरूप "प्रातिभ-ज्ञान" प्राप्त होता है और उसके प्रभाव से तत्व-दर्शन (आत्म-दर्शन) प्राप्त होता है।

श्रुतज्ञान से अनुभव ज्ञान की भिन्नता—समस्त प्रकार के[2] संक्लेश से रहित आत्म स्वरूप को विशुद्ध (प्रत्यक्ष) अनुभव के बिना लिपिमयी

---

१ चरमावंचकयोगात्-प्रातिभसजाततत्वसुदृष्टि । —(षोडषक)

२ पश्यतु ब्रह्मनिर्द्वन्द्वं, निर्द्वन्द्वानुभव विना।
कथ लिपिमयी दृष्टि वाङ्मयी वा मनोमयी ॥ —(ज्ञानसार)

दृष्टि (सज्ञा अक्षर रूप), वाङ्मयीदृष्टि (व्यजनाक्षर रूप)' अथवा मनोमयी दृष्टि (लब्धि अक्षर रूप अर्थ परिज्ञान) से ज्ञात नही किया जा सकता।

योगियो को इस सालम्बन ध्यान रूप अपरतत्व के प्रभाव से ही "परतत्व" प्राप्त होता है, उसके विना नही हो सकता।

अक्षर श्रुतज्ञान के तीनो भेदो के द्वारा "ब्रह्म" का अनुभव कदापि नही हो सकना। "ब्रह्म" का अनुभव करने के लिए तो "अनुभव ज्ञान" ही समर्थ है।

अनुभवदशा सुषुप्ति, स्वप्न अथवा जागृत अवस्था से भी चौथी अनुभवदशा है। यह विकल्प रहित अवस्था है, फिर भी सुषुप्ति नही है, क्योकि सुषुप्त अवस्था विकल्प रहित होने पर भी मोहमयी है, जबकि स्वप्न एव जागृत अवस्था तो सविकल्प एव मोहस्वरूप भी है। अत इन तीनो से अनुभव-अवस्था भिन्न है।

अनुभवदशा की महिमा—शास्त्र सूचना देते हैं, मार्ग दर्शन करते है, आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव करने के उपाय वताते हैं, परन्तु आत्मा का साक्षात्कार कराके भव-सागर से उस पार पहुचाने का कार्य तो "अनु-भवज्ञान" का ही है।

"इन्द्रियो से[1] अगोचर एव समस्त उपाधियो से रहित शुद्ध आत्मा को शुद्ध अनुभव के विना केवल शास्त्रो की सहस्रो युक्तियो से हम नही जान सकते।"

आत्मा अतीन्द्रिय पदार्थ है। इसे जानने-समझने के लिये अतीन्द्रिय सामर्थ्ययोगस्वरूप "अनुभवज्ञान" ही एक अनन्य उपाय है।

"अनुभवज्ञान" शास्त्रयोग का फल है। इस कारण ही यह मोक्ष का प्रधान साधन है। सुविहित मुनि शास्त्र-दृष्टि से शब्द ब्रह्म का वोध करके अनुभवज्ञान के द्वारा स्वप्रकाशरूप परब्रह्म—आत्म-स्वरूप को जानते है।

"सम्म सामायिक" भी प्रशान्तवाहिता, अनालम्बन योग और असग अनुष्ठानरूप है, यह बात हम पहले सोच चुके हैं। यहाँ तो "सम्म सामा-यिक" और "अनुभवदशा" कहने का कारण यह है कि इनमे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र परिणाम स्वरूप आत्मा का अनुभव होता है।

---

१ अतीन्द्रिय परब्रह्म विशुद्धानुभव विना।
शास्त्रायुक्ति शतेनापि न गम्य यद् बुधा जगु ॥ —(ज्ञानसार)
आत्मानमात्मना वेत्ति मोहत्यणाद् य आत्मनि।
तदेव तस्य चारित्र तज्ज्ञान तच्च दर्शनम ॥ —(योगशास्त्र)

"आत्मा[1] मोह के त्याग से स्वआत्मा मे ही स्वआत्मा के द्वारा आत्मा को ही जानती है. वही उसका चारित्र है, वही ज्ञान और दर्शन है।"

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने भी "ज्ञानसार" में बताया है कि "ज्ञाता आत्मा, आत्म-स्वभावरूप आधार के सम्बन्ध में शुद्ध कर्म-उपाधिरहित स्वद्रव्यरूप आत्मा को आत्मा के द्वारा अर्थात् ज्ञपरिज्ञा एवं प्रत्याख्यान-परिज्ञा के द्वारा जानती है। इस रत्नत्रयी में ज्ञान, रुचि, श्रद्धा एवं चारित्र (आचरण) की मुनि को अभेद परिणति होती है।"

इस कारण से ही जो श्रुतज्ञान के द्वारा केवल आत्मा को जानते हैं, उन्हे अभेद नय की अपेक्षा से "श्रुतकेवली" समझे, और जो केवल सम्पूर्ण श्रुत को ही जानते हैं उन्हे भेद नय से "श्रुतकेवली" समझने का शास्त्रो में उल्लेख है।

इस प्रकार विचार करने से ज्ञात होता है कि तन्मयतास्वरूप "सम्य सामायिक" में आत्मानुभव अवश्य होता है।

योग शास्त्र के बारहवें प्रकाश में भी इस सम्बन्ध में पर्याप्त स्पष्टीकरण किया गया है जिसके सार पर यहाँ विचार करेंगे।

अनुभवदशा का स्वरूप—सम्पूर्ण कर्म के क्षय से मोक्ष प्राप्त होता है। कर्म-क्षय आत्मज्ञान-अनुभव से होता है और आत्मज्ञान ध्यान-साध्य से। अतः ध्यान करना समस्त मुमुक्षु आत्माओ का सच्चा हित है। ध्यान समता के बिना नही हो पाता और ध्यान के बिना निश्चल समता प्राप्त नही होती। दोनो परस्पर एक दूसरे के सहायक एवं पूरक हैं।

समता और ध्यान का स्थान "चित्त" है। चित्त की निम्नलिखित चार अवस्थाएँ बताई गई हैं—

(१) **विक्षिप्त**—सामान्य लोगो का तथा प्राथमिक अभ्यासी का चित्त अत्यन्त चंचल होता है। जिन व्यक्तियो का मन किसी भी कार्य में स्थिर नही रहता, सदा डाँवाडोल रहता है, वह "विक्षिप्त अवस्था" कहलाती है।

---

१ आत्मात्मन्येव यच्छुद्ध, जानात्यात्मानमात्मना।
सेयं रत्नत्रये ज्ञप्तिरुच्याचारैकता मुने.॥ — (ज्ञानसार)

(२) यातायात—थोडा अभ्यास करने के पश्चात् चित्त चिन्तनीय विषय मे अल्पकाल तक स्थिर रह सकता है, तब तनिक आनन्दानुभूति होती है, इसे "यातायात अवस्था" कहते हैं।

(३) श्लिष्ट—ध्यान के निरन्तर अभ्यास के पश्चात् ध्येय मे चित्त स्थिर होता है, तव वह आनन्दमय होता है। वह चित्त की "श्लिष्ट अवस्था" कहलाती है।

(४) सुलीन—दीर्घकालीन शास्त्राभ्यास एव ध्यान-अभ्यास से चित्त ध्येय मे अत्यन्त एकाग्र हो जाता है, उसे "सुलीन अवस्था" कहते हैं। वह परमानन्दमय होती है, अर्थात् ध्याता को उस समय दिव्य आनन्दानुभूति होती है।

क्रमश इन अवस्थाओ मे से गुजरने के पश्चात् इनके निरन्तर अभ्यास से "अमनस्कभाव" अर्थात् चित्त को "उन्मनो अवस्था" प्रकट होती है।

एव क्रमशोऽभ्यासावेशाद्ध्यान भवेन्निरालब।
समरस भाव यात परमानद ततोऽनुभवेत्॥

चित्त की ये अवस्था अभ्यास-साध्य हैं। क्रमानुसार अभ्यास करके "सुलीन अवस्था" सिद्ध करके निरालम्बन ध्यान का आश्रय लेना चाहिये। इस प्रकार निरालम्वन ध्यान के अभ्यास से "समरस-भाव" प्राप्त होने पर परमानन्दानुभूति होती है।

उपर्युक्त श्लोक का अर्थ समझने पर तीनो सामायिको का अद्भुत रहस्य समझ मे आयेगा।

प्रथम दो (विक्षिप्त एव यातायात) अवस्थाओ मे कोई भी सामायिक प्राप्त नही हो सकती।

(१) साम सामायिक मे चित्त की श्लिष्ट अवस्था होती है।

(२) सम सामायिक मे चित्त की सुलीन अवस्था होती है।

(३) सम्म सामायिक में चित्त की अमनस्क अवस्था (उन्मनी भाव) होती है।

प्रथम दो सामायिको मे सालम्वन ध्यान होता है। उनके निरन्तर अभ्यास से निरालम्बन ध्यान को शक्ति प्रकट होती हैं और निरालम्बन ध्यान के अविरल अभ्यास से "समरस भाव" अर्थात् "सम्म-सामायिक" प्राप्त करके परमानन्दानुभूति की जा सकती हैं। यह परमानन्द की अनुभूति ही वास्तविक "अनुभव-दशा" हैं।

सम्म सामायिक एवं उन्मनी भाव—सम्म सामायिक प्रशान्तवाहिता रूप हैं, जिसमे पूर्वोक्त चित्त की चारो अवस्थाओ मे से कोई अवस्था नही होती, परन्तु यहाँ चित्त अत्यन्त उन्मनी भाव मे (अमनस्क) होता हैं।

बहिरन्तश्च समतात्, चिंता चेष्टा परिच्युतो योगी।
तन्मयभाव प्राप्त, कलयति मृगमुन्मनीभावम् ॥

"बाह्य एव आन्तरिक चिन्ता-चेष्टा रहित योगी तन्मय भाव प्राप्त करके अत्यन्त अमनस्क हो जाता है।"

जब चित्त चिन्तन-मुक्त होता हैं तब शान्त सुधारस का आनन्द धाराप्रवाह चलता हैं।

बहिरात्मदशा दूर करके, अन्तरात्मदशा मे स्थिर होकर, परमात्मस्वरूप के ध्यान मे तन्मय होने से उपर्युक्त "उन्मनीभाव" उत्पन्न होता हैं, जिसे लय, औदासीन्य अथवा "अमनस्कयोग" भी कहते हैं।

बहिरात्मदशा का विशेष स्वरूप गुरुगम से समझने का प्रयत्न करें। संक्षेप मे निम्नलिखित हैं।

आत्मा की तीन अवस्था—

(१) **बहिरात्मा**—देह मे आत्मबुद्धि बहिरातमा का लक्षण हैं। चर्मचक्षुओ से दीखने वाली देह ही मैं हूँ—ऐसी मान्यता एव तदनुरूप प्रवृत्तिवाला जीव "बहिरात्मा" कहलाता हैं। उसे प्रथम गुण-थानवर्ती 'मिथ्यादृष्टि" जीव भी कहते हैं।

(२) **अन्तरात्मा**—देह मे भिन्न एव देह के भीतर विद्यमान चैतन्य तत्व मे आत्मबुद्धि अन्तरात्मा का लक्षण हैं। भौतिक दृष्टि से दिखाई देने वाली देह मे नही हूँ परन्तु उसके भीतर रहा हुआ चैतन्य तत्व (आत्मा) ही मैं हूँ—ऐसी मान्यता वाला और तदनुरूप प्रवृत्ति वाला जीव अन्तरात्मा कहलाता हैं, अर्थात् जिसे चित्त, वाणी अथवा काया आदि मे आत्म-भ्राति नही होती उसे "अन्तरात्मा" कहते हैं। सम्यग्दृष्टि, देशविरति और सर्वविरति—चौथे से बारहवें गुणस्थान तक के जीव इस भूमिका मे होते हैं।

(३) **परमात्मा**—सच्चिदानन्दस्वरूप प्राप्त शुद्ध बुद्ध और पूर्ण ज्ञानी आत्मा को "परमात्मा" कहा जाता हैं। वे सयोगी और अयोगी तेरहवें और चौदहवे गुणस्थानवर्ती जीव अरिहत एव सिद्ध भगवान है।

बहिरात्मदशा की भयकरता—इस अवस्था वाले जीव देह आदि पौद्गलिक पदार्थो मे ही अहकार एव ममत्व की वृत्ति-प्रवृत्ति करते होते

हैं। वे जिस प्रकार अपनी देह मे अपनी आत्मा की बुद्धि रखते हैं, उसी प्रकार से दूसरो की देह मे भी दूसरो की आत्मा की बुद्धि रखते हैं।

आत्मा के वास्तविक परिचय के अभाव मे अज्ञानी जीव अपनी देह को ही अपना स्वरूप मानते हैं और पर की देह को पर का स्वरूप मानते हैं, परन्तु देह मे व्याप्त अनन्तज्ञान एव आनन्दमय आत्म-तत्व के स्वरूप का उन्हे तनिक भी ज्ञान नही होता।

(स्वत्व के) अज्ञानान्धकार मे टकराते जीव माता, पिता, पुत्र, कलत्र, स्नेही, स्वजनो, महल-बगीचो और धन-धान आदि सामग्री मे ममत्व की कल्पना कर लेते हैं। पृथ्वीकाय आदि पुद्गलो के पिण्ड स्वरूप स्वर्ण, चाँदी आदि को ही वास्तविक सम्पत्ति मान कर उनमे ममत्व भावना रखते हैं और उन्हे ही सुख के साधन समझ कर उन्हे प्राप्त करके उनका उपभोग करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं।

पुद्गलजनित सायोगिक सुखो की तीव्र आशा, आसक्ति और मूर्च्छा के वशीभूत बने इन अज्ञानी व्यक्तियो को देह के प्रति हुए आत्म-भ्रम एव जड पदार्थों की ममता के कारण यह देह बार-बार धारण करनी पडती हैं और भयकर दु खमय नरक-निगोद आदि दुर्गतियो मे अनन्त काल तक परिभ्रमण करना (पीडित होना) पडता है, इस बात का उन्हे तनिक भी ध्यान नही आता।

बहिरात्मदशा के शिकार बने ससारी जीवो की ऐसी दयनीय दशा देखकर ज्ञानी पुरुषो का हृदय भाव-करुणा से आर्द्र हो जाता है। देह आदि क्षणिक सुखो के लिए हिंसा आदि पाप-कार्यो मे प्रवृत्त जीवो का भयकर भावी देखकर परम कृपालु महात्माओ के नेत्र भी अश्रु-पूर्ण हो जाते हैं।

इस काल कवलित ससार मे परिभ्रमण कराने वाले, ससार वृक्ष की मूल तुल्य बहिरात्मदशा का मूलोच्छेदन करने के लिये ज्ञानी भगवान सर्व प्रथम उपदेश देते है।

बहिरात्मदशा निवारण करने का उपाय—'मैं और मेरा' यह मन्त्र मोहराजा का हैं। ससारी जीव अनादि काल से ही इस मन्त्र का अजपा जाप कर रहा हैं। इसके प्रभाव से ही जन्म, जरा, मृत्यु, आधि, व्याधि एव उपाधि की अनेक भाँति की असह्य यातनाये इस जीव को भोगनी पडती हैं।

नरक आदि की दुस्सह यातनाओ से बचने के लिए और उसकी अनन्य कारणभूत बहिरात्मदशा का निवारण करने के लिए मोह द्वारा प्रदत्त मन्त्र भूलना होगा, उसके जाप स्थगित करने पड़ेंगे। मोह के प्रति-स्पर्द्धी धर्म राजा का अमोघ मन्त्र "नाह न मम" का जाप निरन्तर शुरू करना पडेगा।

यह दिखाई देने वाली देह मैं नही हूँ, ये तथाकथित स्वजन, सम्पत्ति अथवा सत्ता मेरे नही हैं, परन्तु मैं एक शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ, केवलज्ञान आदि गुण मेरे हैं, उनके अतिरिक्त समस्त पुद्गल द्रव्य मेरे नही हैं, मैं उनका नही हूँ।"

मेरी आत्मा तो अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणो से परिपूर्ण है, वह शाश्वत है, उसका कदापि नाश होने वाला नही है, वह तो अजर, अमर, अविनाशी है, सच्चिदानन्दस्वरूप एव परमानन्दमय है।

ये दृश्य-अदृश्य समस्त पौद्गलिक पदार्थ तो क्षणिक एव नश्वर है, जड हैं और सुख देने की शक्ति रहित हैं। ऐसे पदार्थों के प्रति मोह-ममता रखकर मैं क्यो दु खी होऊँ? उनकी आसक्ति से तो आत्मा दीर्घकाल तक दु.खमय दुर्गतियो की पथिक बनती हैं।

इस प्रकार देह आदि पदार्थों की अनित्यता एव असारता का बार-बार चिन्तन करने से और आत्मा के यथार्थ स्वरूप का चिन्तन, मनन करने से बहिरात्मदशा नष्ट होती जाती हैं और अन्तरात्म दृष्टि विकसित होती रहती हैं।

अन्तरात्मदृष्टि प्राप्त करने का उपाय—सत्शास्त्रो के सतत अध्य-यन, अभ्यास से एव सद्गुरुओ के पुनीत समागम—सम्पर्क से आत्मा एव देह आदि पदार्थों की भिन्नता का ज्ञान ज्यो-ज्यो अधिकाधिक आत्मसात् होता हैं, त्यो-त्यो "अन्तरात्मदशा" का अधिकाधिक विकास होता रहता हैं, उसमे स्थिरता आती रहती हैं।

"मैं आत्मा हूँ" ऐसा यथार्थ ज्ञान होने पर जीव को पूर्वावस्था (बहिरात्मदशा) मे किये गये अकार्यों के कारण अपार पश्चात्ताप होता हैं, अमूल्य समय नष्ट करने के कारण अत्यन्त खेद होता हैं कि—आज तक मैं इन्द्रियो का दास बनकर, देह सुख मे ही आसक्त-अन्धा बनकर मैं अपनी विशुद्ध एव पूर्णानन्दमय आत्मा को ही भूल गया, पूर्णतः निकटस्थ सुख-शान्ति के अक्षय निधान को भी मैं नही निहार सका—नही पहचान

सका ? उफ ! सुख और आनन्द के आभास तुल्य इन विषय-सुखो के दारुण विपाक को भूलकर मैं कितने भयकर भ्रम का शिकार हो गया।

असार को सार और विनाशी को अविनाशी मान लेने की इस प्राण-घातक भूल का पर्दा फट जाने पर अब मुझे वह सत्य समझ मे आता है कि बाह्य दृष्टि से दीखते ये समस्त पदार्थ जड हैं, उनमे कोई ज्ञान नही है, उनमे सुख अथवा आनन्द प्रदान करने की तनिक भी शक्ति नही है। जो सुख-दुःख की भावना को जानती है, अनुभव करती है, वह तो मेरे भीतर बसी चैतन्य शक्ति है, जिसे आत्मा कहते हैं। यह आत्म-द्रव्य सनातन है, तीनो काल मे अबाधित रीति से रहने वाला द्रव्य है। यह कदापि अपना चैतन्य स्वरूप छोडकर जडरूप नही बनता।

अनादिकाल से कर्म परमाणुओ के साथ वह हिल-मिल गया है, फिर भी इसका स्वय का स्वरूप कदापि नष्ट नही होता। उसके अमुक प्रदेश (आठ रुचक प्रदेश) तो सदा निरावरण एव निर्मल ही होते हैं। ऐसे आत्म-तत्व से परिचित कराने वाले तीर्थंकर परमात्मा, उनके शास्त्र एव सद्-गुरुओ की शरण ग्रहण करके उनके मार्ग दर्शन और आदेशानुसार यदि मैं जीवन यापन करने के लिए प्रेरित होऊँ तो इस भयानक भव अटवी से मेरा अवश्य उद्धार हो जायेगा।

निरजन, निराकार, ज्योतिर्मय सिद्ध परमात्मा के ध्यान मे लीन होकर, अरिहन्त परमात्मा के शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्यायो का चिन्तन-मनन करके मैं अपने आत्मस्वरूप का यथार्थ परिचय एव उसकी अनुभूति करने का प्रयास करूँगा। अन्तरात्मदशा प्राप्त करने का यही अनन्य उपाय है, सच्चा मार्ग है।

अनालम्बनयोग अन्तरात्मदशा स्वरूप है, वह कहाँ हो सकता है ? अर्थात् उसके अधिकारी कौन हैं ? इसका उत्तर यह है कि अनालम्बनयोग मुख्यत क्षपकश्रेणीरूप अपूर्वकरण मे होता है, अर्थात् उसके अधिकारी सातवें आठवें गुणस्थानक वाले जीव होते हैं, अर्थात् परमात्म-तत्व का साक्षात्कार केवलज्ञान से होता है और केवलज्ञान प्राप्त होने के पूर्व क्षण तक अनालम्बन योग अवश्य होता है।

इस प्रकार आठवें गुणस्थानक से लगाकर बारहवें गुणस्थानक तक सम्पूर्ण "निरालम्बनयोग" होता है, जबकि सातवें गुणस्थानक मे यह निरा-लम्बन योग अशत. अल्प प्रमाण मे हो सकता है, क्योकि श्रेणी प्रारम्भ

करने से पूर्व उस प्रकार के प्रबल ध्यान आदि के वेग के लिए पूर्वाभ्यास होना अनिवार्य है।

वर्तमान मे आलम्बन योग—यद्यपि मुख्यतया तो परतत्व के लक्ष्य-वेध के अभिमुख जो "सामर्थ्ययोग" है वही "निरालम्बनयोग" है, फिर भी उससे पूर्व होने वाले परमात्म गुणो के ध्यान को भी (मुख्य निरालम्बन ध्यान का प्रापक तथा परतत्व दर्शन की इच्छारूप एक ही ध्येय मे ध्यान रूप में परिणमित शक्ति के योग से) "अनालम्बन योग" कहते हैं, अर्थात् श्रेणी के प्रारम्भ से ही शुक्लध्यान का अशरूप निरालम्बनयोग होता है। इतना ही नही, परन्तु सातवे गुणस्थानक मे अप्रमत्त मुनि को भी अमुक अंश में होता है।

अवस्थात्रयी की भावना मे निमग्न बने साधक को सिद्ध परमात्मा के गुणों के प्रणिधान के समय भी अनालम्बन योग होता है, अथवा संसारी मनुष्य के (व्यवहार-नय-मान्य) औपाधिक स्वरूप को गौण मान कर शुद्ध निश्चय-नय-मान्य शुद्ध आत्म-स्वरूप की विभावना करना भी निरालम्बन ध्यान का ही प्रकार है।

आत्मज्ञान-अनुभव निरालम्बन ध्यान (योग) का एक अश है और यह निरालम्बन ध्यान ही मोह का क्षय करने में समर्थ होता है, उसके विना मोह का मूल से नाश होना सम्भव नही है। कहा भी है कि—"जो अरिहन्त आदि को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानते हैं, वे अपनी आत्मा को भी अवश्य जानते हैं, जिससे उनका मोह नष्ट होता है।"

अरिहन्त परमात्मा का स्वरूप शोधित स्वर्ण के समान अत्यन्त निर्मल है। उनका ज्ञान होने से समस्त आत्माओ के शुद्ध, निर्मल स्वरूप का ज्ञान होता है।

द्रव्य अन्वय स्वरूप है, गुण अन्वय का विशेषण है और पर्याय अन्वय के भेद—प्रकार हैं।

समस्त प्रकार से शुद्ध अरिहन्त परमात्मा के स्वरूप का विचार करने से द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप अपनी आत्मा का भी साधक (स्व मन से) अनुभव कर सकता है, जिसकी रीति निम्नलिखित है—

(१) यह चेतन है ऐसा अन्वय "द्रव्य" है।

(२) द्रव्य (अन्वय) का आश्रित "चैतन्य" विशेषण "गुण" है।

(३) समय मात्र के काल परिणाम से परस्पर भिन्न अन्वय द्रव्य के

भेद अर्थात् कालकृत अवस्था "पर्याय" हैं अथवा चिद्विवर्तन ग्रंथी अर्थात् आत्म परिणाम की ग्रन्थी "पर्याय" हैं, द्रव्य की क्रमभावी अवस्था पर्याय हैं।

इस प्रकार त्रिकालिक स्व आत्मा का भी एक समय मे अनुभव कर लेने वाला वह जीव मुक्ताफलो (मोतियो) को अपनी माला मे समाविष्ट[1] कर लेता है, उसी प्रकार से चिद्विवर्तों को चेतना मे समा कर, तथा विशेषण-विशेष्यत्व की कल्पना दूर होने पर मोतियो की श्वेतता-तेजस्विता माला मे अन्तर्गत की जाती है, उसी प्रकार से चैतन्य को भी चेतन मे ही अन्तर्गत करके (केवल माला की तरह) केवल आत्मा को ही जानता है, उसका ही अनुभव करता है। तत्पश्चात् उत्तरोत्तर क्षण मे कर्त्ता, कर्म अथवा क्रिया के भेदो का क्षण विलय होने पर निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त करता है और किसी प्रसिद्ध मणि तुल्य निष्कप, निर्मल प्रकाशयुक्त उस आत्मा का मोह-अन्धकार अवश्य नष्ट होता है।

इस प्रकार शुद्ध आत्म स्वरूप की भावना के द्वारा आत्मानुभूति होती है वह निरालम्बन योग का ही एक अश है जो वर्तमान मे भी प्राप्त हो सकता हैं। कलिकालसर्वज्ञ आचार्यदेव श्री हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज ने अपने योगशास्त्र ग्रन्थ के अनुभव प्रकाश में अपने व्यक्तिगत अनुभव बताते हुए कहा है कि जिस प्रकार सिद्धरस के स्पर्श से लोहा स्वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार से परमात्म-ध्यान के प्रभाव से आत्मा परमात्म-स्वरूप धारण करती है। जिनस्वरूप होकर 'जिन" का ध्यान करने वाला अवश्य ही 'जिन" बनता है।

प्रत्येक जीवात्मा का यह सहज स्वभाव है कि वह जिस वस्तु का

---

१ जिस प्रकार कोई धनवान हार क्रय करने से पूर्व उसकी पूर्णत जाँच करता है, हार, मोती और उसकी श्वेतता, ओप आदि की परीक्षा करता है, परन्तु हार पहनने के समय अन्य समस्त विकल्पो को त्याग कर केवल हार की ओर ही लक्ष्य रखता है, उसे ही पहचानता है, देखता है तो ही उसे पहनने का आनन्द अनुभव कर सकता है, अन्यथा नही, उसी प्रकार से आत्मा भी प्रथम अरिहन्त परमात्मा के शुद्ध स्फटिक तुल्य निर्मल स्वरूप का ध्यान धरती है। तत्पश्चात् उस ध्यान का प्रवाह ध्याता मे विद्यमान परमात्म-स्वरूप का भान कराता है, अर्थात् मेरी आत्मा मे भी निश्चय नय से परमात्मा तुल्य द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, ऐसा अनुभव होता है और फिर उपर्युक्त प्रक्रिया के द्वारा परमात्मा के साथ आत्मा की तन्मयता सिद्ध होती है।

चिन्तन (ध्यान) करता है उसके कारण वह उसके आकार को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार ईयल भ्रमरी के सतत ध्यान से—तद्रूप परिणाम से भ्रमरी के रूप मे उत्पन्न होती है। उसी प्रकार से अन्तरात्मा भी परमात्मा के ध्यानावेश से अर्थात् आत्मा मे परमात्म भावना लाकर परमात्म-स्वरूप में तन्मय होता हैं। उस समय ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकता रूप समापत्ति सिद्ध होने पर ध्याता को परमात्म-सदृश स्व-आत्मा का अनुभव होता है। इस प्रक्रिया को "आत्मार्पण" कहा जा सकता है, क्योंकि यहाँ आत्मा का परमात्मा मे पूर्ण समर्पण होता है।

समस्त प्रकार की आन्तरिक वृत्तियाँ शान्त होने पर जो समरसी भाव उत्पन्न होता है उसे परम उन्मनी भाव, अमनस्कयोग, लय-अवस्था अथवा परम औदासीन्य भाव भी कहते है और इस अवस्था मे आत्मानुभूति अवश्य होती है।

यदिदं तदिति न वक्तु साक्षाद्गुरुणा पि हन्त शक्येत।
औदासीन्यपरस्य प्रकाशते तत्स्वयं तत्वम्॥
—(योगशास्त्र)

बाह्य घट आदि पदार्थ की तरह "ये रहा आत्म तत्व" इस प्रकार गुरु भी जिस तत्व को साक्षात् नही बता सकते, वह तत्व उदासीन भाव मे तत्पर बने साधक को स्वय प्रकाशित होता है। यह है उदासीन भाव का प्रभाव।

सद्गुरुओं की सेवा करते हुए शास्त्राध्ययन करके आत्मानुभव के सच्चे उपाय जानकर उनके निरन्तर सेवन से क्रमानुसार जब आत्मानुभूति की भूमिका प्राप्त होती है, तब शास्त्रोक्त वचनो के स्मरण-सस्कार मात्र से अनायास ही आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार होता है। उस समय गुरु अथवा शास्त्र-वचन साक्षात् आत्मानुभूति मे कारणभूत नही बन सकते, परन्तु साधक अपनी ही सामर्थ्य से आत्मा मे आत्मा का अनुभव करता हैं। पूज्य श्री आनन्दघनजी महाराज ने भी गाया हैं—

आलम्बन-साधन जे त्यागे, पर-परिणति से भागे रे।
अक्षय. दर्शन, ज्ञान वैरागे, आनन्दघन प्रभु जागे रे॥

आत्मानुभूति के लक्षण—शुभ ध्यान के सतत अभ्यास से मन जब समस्त शुभ एव अशुभ विचारो से मुक्त हो जाता हैं, चिन्ता एव स्मृति आदि का भी विलय होता है अर्थात् उन्मनी भाव आ जाता हैं, तब "निष्कल तत्व" प्रकट होता है अर्थात् अनुभव ज्ञान होता है।

आत्मानुभूति के बाह्य चिन्ह—आत्मानुभूति के समय योगी की देह तेल आदि के मर्दन के बिना भी अत्यन्त मृदु एव स्निग्ध बनती है, तथा स्तब्धता दूर होने से पूर्णत शिथिल हो जाती है, पुष्प के समान सर्वथा हलकी हो जाती है। तेल-मर्दन से कृत्रिम रूप से आई हुई चिकनाहट अथवा प्रस्वेद आदि के कारण प्रतीत होती देह की सुकोमलता आत्मानुभूति के चिन्ह नही है, परन्तु किन्ही बाह्य साधनो के बिना मन की अमनस्क (विमनस्क) अवस्था मे स्वाभाविक तौर से उपर्युक्त भावो की अनुभूति हो तो समझना चाहिये कि ये आत्म साक्षात्कार के सूचक चिन्ह हैं।

उन्मनी (अमनस्क) भाव का महत्त्व—मन को शल्य एवं सक्लेश रहित बनाने का परम उपाय एकमात्र उन्मनी भाव है। इसके बिना मन मे शल्यो का सर्वथा उन्मूलन नही हो सकता।

आत्म-दर्शन की तीव्र उत्कंठा वाले अप्रमत्त योगी भी तनिक भी प्रमाद किये बिना अत्यन्त दुर्वार, चचल, सूक्ष्म एव शीघ्रगामी मन का भेदन करने के लिए उन्मनी भाव का ही आश्रय लेते हैं और अपनी आत्म-दर्शन की उत्कठा पूर्ण करते हैं। उन्मनी भाव मे डुबकी लगाते योगियो को अपनी देह के अस्तित्व की स्मृति तक नही रहती—मानो देह बिखर गई हो, जल कर राख हो गई हो, अर्थात् उन्हे केवल देह रहित आत्मा का ही अनुभव होता है।

उन्मनी भाव का फल—आत्म-तत्व की अनुभूति ही उन्मनी भाव का परम फल है।

उन्मनीभाव के आन्तरिक चिन्ह—अविद्या—बहिरात्म भाव (मिथ्यात्व) का सर्वथा नाश होता है, अर्थात् अब देह के प्रति कदापि आत्म-बुद्धि नही होती।

इन्द्रियजनित विकारो का नाश होने से परम शान्त सुधारस के आस्वादन का अनुभव होता है।

प्राणायाम के अभ्यास बिना भी प्राणवायु का विलय होता है, अर्थात् चिरकाल तक प्रयत्न करने पर भी जिस प्राणवायु पर नियन्त्रण नही हो पा रहा था, वह वायु उन्मनी भाव (अमनस्कता) के प्रकट होने से स्थिर हो जाता है।

उन्मनी भाव से आत्मानुभूति—मन की उन्मनी अवस्था प्राप्त होने के पश्चात् भी साधक योगी उसके अविरल अभ्यास के द्वारा ज्यो-ज्यो

अधिकाधिक स्थिरता प्राप्त करता जाता है, त्यो-त्यों उसे कर्म कलंक से रहित, निष्कल, निर्मल, आत्म-तत्व की अनुभूति होती रहती है। उस समय सांस का समूल उन्मूलन करता हुआ वह योगी "मुक्तात्मा" की तरह सुशोभित होता है।

लय अवस्था के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा हुआ योगी सिद्धि के दिव्य योग का आशिक अनुभवास्वादन करता होने से वह सिद्धो से किसी प्रकार निम्न कोटि का नही है, इस कारण ही तो वह मुक्ति की अभिलाषा से भी निवृत्त हो जाता है।

अनुभव-योगी के उद्‌गार—"मोक्ष प्राप्त हो अथवा न हो, मुझे इसकी तनिक भी चिन्ता नही है, क्योकि मुक्ति मे प्राप्त होने वाले परमानन्द के सुख का व्यञ्जन साक्षात् रूप से मुझे इस जीवन मे आस्वादन करने को मिला है, जिसके समक्ष तीनों लोको के भौतिक सुख तुच्छ प्रतीत होते हैं।" इस परमानन्द के अनुभव मे लीन होने पर "मुक्ति" प्राप्त करने की इच्छा भी विलीन हो जाती हैं, फिर अन्य इच्छा-महेच्छाओ की तो बात ही क्या है?

उन्मनी भाव के प्रभाव से उत्पन्न आत्मानुभूति के परमानन्द की मधुरता के समक्ष पूर्णचन्द्र की शीतलता अथवा अमृत की मधुरता भी सर्वथा फीकी लगती है।

इस आत्मानुभूति की अवस्था का सतत अभ्यास होने पर क्रमशः शुक्लध्यान, क्षपकश्रेणी, केवलज्ञान और अन्त मे निष्क्रिय अवस्था (योग-निरोध) प्राप्त होने पर मोक्ष के शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है, अर्थात् आत्मा की सच्चिदानन्दमय पूर्णता खिल उठती है।

सम्म सामायिक के पूर्वोक्त स्वरूप एव फल के साथ आत्मानुभवदशा के स्वरूप एव फल का समन्वय करने पर दोनो की समानता ज्ञात हुए बिना नही रहती। सम्म सामायिक मे भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र के परिणामो की एकता (एकरूपता) होने पर आत्मा के सहज स्वभाव का अनुभव होता है, अर्थात् सम्म सामायिक अनुभवदशा स्वरूप है, जिससे अनुभव की समस्त कक्षाओ का भी उसमें समावेश हो जाता है।

सामायिक एव प्रवचनमाता—पाँच समिति और तीन गुप्ति ये चारित्राचार के आठ प्रकार हैं। सयमरूपी बालक की जन्मदाता होने से, उसका पालन-पोषण और उसकी रक्षा करने वाली होने से उन्हे "माता"

के नाम से सम्बोधन किया जाता है। जैन दर्शन में "अष्टप्रवचनमाता" अत्यन्त प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण हैं।

पणिहाण जोगजुत्तो पर्चाह समिहि तिहि गुत्तिहि।
एस चरित्तायारो अट्ठविहो होइ नायव्वो॥

"प्रणिधान योग-युक्त चारित्राचार पाँच समिति और तीन गुप्ति के द्वारा आठ प्रकार का है। चारित्र के समस्त प्रकारो का सग्रह आठ प्रवचन माताओ मे हो चुका है।"

चारित्र की उपस्थिति मे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की भी उपस्थिति अवश्य होती है।

इस प्रकार रत्नत्रयी का एकत्रित सम्मिलन होने से "प्रवचनमाता" सामायिक स्वरूप है।

प्रवचनमाता नाम की सार्थकता—कहा है कि प्रवचन[1] द्वादशागी अथवा (उसके आधारभूत) श्रमण सघ की जननी होने से "ईर्या समिति" आदि आठ "प्रवचनमाता" कहलाती हैं, क्योकि उन ईर्या समिति आदि के आश्रय से ही उनकी (प्रवचनमाता की) साक्षात् अथवा परम्परा से उत्पत्ति होती है। जिसके द्वारा जिनकी उत्पत्ति होती है, उन्हे उनकी "माता" कहा जाता है।

चतुर्विध सघ ईर्या समिति आदि को एक घडी भी अलग नही रखे तो ही उसे सघ कहा जा सकता है। "प्रवचनमाता" की उपेक्षा करने वाला साधु सचमुच साधु नही है और श्रावक सचमुच श्रावक नही है।

छोटा बालक माता के सतत सान्निध्य मे रहकर ही बडा होता है, उत्तम जीवन जीने वाला बनता है। माता से बिछुड जाने वाला बालक उचित देखरेख के अभाव मे अकाल काल का ग्रास भी बनता है, उसी प्रकार से साधु-साध्वी अथवा श्रावक-श्राविका भी इन माताओ की निश्रा में रहकर जीवन यापन करें तो ही वे संघ के सदस्य रह सकते हैं, अन्यथा नही।

"षोडषक" ग्रथ मे परम पूज्य श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने भी यही बात बताई है कि—"प्रवचन की प्रसूति मे हेतु-भूत होने से "ईर्या

---

१ प्रवचनस्य द्वादशागस्य तदाधारस्य वा सघस्य मातर इव जनन्य इव प्रवचन-मातर इर्यासमित्यादय। —(समवायाग सूत्रवृत्ति)

समिति" आदि को "प्रवचन माता" कहा है। इनके पालक साधु को भव का भय नही होता, अत' प्रयत्नपूर्वक नित्य इनका पालन करना चाहिये।"

"योगशास्त्र" मे भी कहा है कि "चारित्र-देह को उत्पन्न करने वाली, रक्षा करने वाली और पावत्त करने वाली होने से "समिति गुप्ति" को साधु की आठ माताओ के रूप मे माना जाता है।

माता बालक का हित करने वाली होती है, उसी प्रकार से ये प्रवचन माता भी (चारित्र गुण उत्पन्न करके) चारित्रवान् का हित करती हैं, चारित्र जीवन में लगने वाले अतिचारो (दोषो) की मलिनता दूर करके आत्म-विशुद्धि की वृद्धि करती हैं।

समिति गुप्ति का लक्षण और कार्य—

गुप्ति—सवरमयी उत्सर्गिक (निश्चय मार्ग) परिणाम रूप है।

समिति—संवर एवं निर्जरामय अपवाद (शुद्ध व्यवहारमय मार्ग) परिणाम रूप है।

आत्मगुण के प्रागभाव—प्रकटीकरण से पूर्व मोक्ष साधक आत्म-परिणाम ही समिति-गुप्ति है।

अयोगी अवस्था सिद्ध करने की तीव्र उत्कंठा वाले साधक व्यक्तियो के जीवन मे गुप्ति की प्रधानता होती है, अर्थात् वे सकल्प-विकल्प का जाल तोडकर मन को स्थिर करते हैं, वाणी का व्यापार बन्द करके मौन धारण करते हैं और हलन-चलन की क्रियाओ को त्याग कर स्थिर होते हैं, यह मुनि का उत्सर्ग मार्ग है। परन्तु इस मार्ग पर दीर्घ काल तक स्थिर नही रह सकने पर अथवा ऐसी आवश्यकता पडने पर जयणापूर्वक प्रवृत्ति करने के लिए वह समिति का आश्रय लेता है। समिति शुभ प्रवृत्ति स्वरूप है और गुप्ति शुभ कार्य मे प्रवृत्ति और अशुभ कार्य में निवृत्ति रूप है।

इन आठो प्रवचन माताओ मे "मनोगुप्ति" प्रधान है। शेष सात उसे ही पुष्ट बनाती हैं, अर्थात् मनोगुप्ति साध्य है और शेष सात साधन हैं। कहा भी है—"धर्म चित्त प्रभवो"—धर्म चित्तप्रभव है अर्थात् धर्म का उद्भव-स्थान चित्त है। कर्म-मल के नाश होने से निर्मल एव पुष्ट बना चित्त ही धर्म है। समस्त सदनुष्ठानो का आयोजन चित्त की शुद्धि के लिए ही है।

मनोगुप्ति एव सामायिक—

विमुक्तकल्पनाजाल, समत्वे सुप्रतिष्ठितम्।
आत्माराम मनस्तज्ज्ञै मनोगुप्तिरुदाहृता ॥ —(योगशास्त्र)

(१) सकल्प, विकल्पो के जाल से रहित अर्थात् मन की निर्मलता।
(२) समभाव मे स्थिरता अर्थात् मन की स्थिरता।
(३) आत्मस्वभाव मे तन्मयता अर्थात् मन की तल्लीनता।

मनोगुप्ति के ये मुख्य तीन भेद हैं जिनमे मनोलय, मन.शुद्धि, अनुप्रेक्षा, धारणा, ध्यान एव समाधि आदि समस्त प्रकार के योगो का अथवा आन्तरिक साधनाओ का समावेश हो चुका है, जैसे—

प्रथम भेद मे मन की श्लिष्ट अवस्था, धारणा तथा अनुप्रेक्षा आदि का समावेश है।

दूसरे भेद मे मन की सुलीन अवस्था एव ध्यानयोग का समावेश है।

तीसरे भेद मे मन की उन्मनी अवस्था एव समाधि-लय (अनुभव दशा) का समावेश है।

इस प्रकार उपर्युक्त तीनो प्रकार की मनोगुप्ति मे समस्त प्रकार के योगो का अन्तर्भाव है, क्योकि उसमे सर्व-सक्लिष्ट वृत्तियो का निरोध होता है और प्रशस्त वृत्तियो की प्रवृत्ति हाती हैं, कहा भी है—

सुदृढ पयत्तवावारण, निरोही-वट्ट-माणाण।
झाण करणाण मय, ण उ चित्तनिरोधमित्ताग ॥ (विशेपावश्यक)

"विद्यमान मन, वचन और काय योगरूप करणो की दृढतापूर्वक की गई प्रवृत्ति अथवा उनका निरोध ध्यान-योग है, परन्तु केवल चित्त-निरोध को ध्यान नही कहा जा सकता।"

उपर्युक्त पक्ति से सिद्ध होता है कि गुप्ति महान ध्यानयोग है।

जिनागमो मे तीनो योगो से ध्यान माना है, अत तीनो प्रकार की गुप्ति ध्यानस्वरूप हैं। मनोगुप्ति धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान का मूल है।

समापत्ति और गुप्ति—मनोगुप्ति के तीनो भेदो को तीनो प्रकार की सामायिक के साथ क्रमश घटित किया जा सकता है—

(१) साम (मधुर परिणाम रूप) सामायिक मे अविद्या-मिथ्यात्व-जनित विकल्पों का अभाव होने से मन कल्पना जाल से मुक्त होता है।

(२) सम (तुल्य परिणाम रूप) सामायिक मे चित्त की अत्यन्त स्थिरता होने से निश्चल समता होती है।

(३) सम्म (तन्मय परिणामरूप) सामायिक में आत्मस्वरूप मे चित्त की तन्मयता होने से स्वभाव-रमणता होती है, क्योकि सम्म सामायिक में

सम्यग्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनो शक्कर और दूध की तरह परस्पर मिश्रित होते हैं, जिससे मन आत्मा मे लीन बना होता है।

मन की तल्लीनता काया और वचन की स्थिरता के बिना सम्भव नही है, अतः त्रिकरणयोग की शुद्धता से ही "आत्म-रमणता" होती है। इस भूमिका में रत्नत्रयी का अभेद प्रतीत होता है, अर्थात् इस अवस्था में किसी भी प्रकार के विकल्प नही होते, परन्तु निर्विकल्प, शुद्ध आत्म-तत्त्व का अनुभव होता है।

रत्न से रत्न की कान्ति जिस प्रकार भिन्न नही है, उसी प्रकार से ज्ञान आदि गुण भी आत्मा से भिन्न नही हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है अर्थात् ज्ञान ही आत्मा है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र भी आत्मा ही है।

इस प्रकार गुण एव गुणी के अभेद से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ध्यान ही "सम्म सामायिक" है और वह मनोगुप्ति का प्रकृष्ट फल है।

सामायिक एवं प्रवचनमाता का कार्य-कारण भाव सामायिक चरण-सित्तरी स्वरूप है और वह मूल गुण है। समिति-गुप्ति करण-सित्तरी रूप है और वह उत्तर गुण है। उत्तरगुण मूलगुण को उद्दीप्त करता है, पुष्ट करता है। सामायिक एव समिति-गुप्ति चारित्र के ही प्रकार है। सामायिक समिति-गुप्ति का कार्य फल है, समिति-गुप्ति उसका साधन है, दोनो का परस्पर कार्य-कारण भाव है।

सामायिक समता के अर्थी व्यक्तियों को मन, वचन, काया की गुप्ति (स्थिरता) का सतत अभ्यास करना चाहिए। यदि गुप्ति मे अधिक समय स्थिर न रहा जा सके तो सम्यक् प्रवृत्तिरूप "समिति" का आलम्बन लेना चाहिये, जिससे गुप्ति का (स्थिरता का) अधिकाधिक विकास होगा और उसके फलस्वरूप क्रमश मधुर परिणाम रूप, समपरिणाम रूप और तन्मय परिणाम रूप सामायिक का अनुभव होगा।

सामायिक जिनशासन की एक अनुपम देन है, अमूल्य सम्पत्ति है।

इस सामायिक की उत्पत्ति "समिति-गुप्ति" के कारण होती है जिससे उसका "प्रवचन माता" नाम यथार्थ है।

समापत्ति एव गुप्ति—समापत्ति भी मनोगुप्ति स्वरूप है। ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकता का नाम ही समापत्ति है, जिसका अन्तर्भाव मनोगुप्ति के पूर्वोक्त प्रकार में हो चुका है। समापत्ति मे भी चित्त कल्पना-जाल से मुक्त, समभाव मे प्रतिष्ठित और आत्मस्वभाव में तन्मय होता

है। समापत्ति को भी योगी पुरुषो की "माता" कहा जाता है। कहा भी है कि—

सर्वज्ञ परमात्मा परम चिन्तामणि हैं। उनके आदर-सम्मान से समापत्ति-समरस की प्राप्ति होती है। वह समापत्ति "योगी-माता" कहलाती है और वह अवश्य ही मोक्ष फलदायिनी है।

निषेधात्मक सामायिक का स्वरूप—

सर्व सावद्य व्यापार का त्याग—सव्व सावज्ज जोगं पच्चक्खामि—समस्त पाप-व्यापारो का प्रत्याख्यान करता हूँ।

सर्व—निरवशेष, सम्पूर्ण, समस्त प्रकार के।

सावद्य—अवद्य-निन्दनीय-पाप, पापयुक्त=सावद्य।

योग—आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अथवा मन, वचन, काया के व्यापार।

प्रत्याख्यामि—त्याग करता हूँ, अर्थात् समस्त प्रकार के पाप-युक्त मन, वचन और काया के व्यापारो का त्याग करता हूँ।

भावार्थ—पहले 'मैं सामायिक करता हूँ"—ऐसी प्रतिज्ञा के द्वारा विधेयात्मक सामायिक का निर्देश दिया। अब निषेधात्मक सामायिक का स्वरूप स्पष्ट करता है।

मन, वचन और काया से सम्बन्धित अशुभ व्यापारो का त्याग करना 'सामायिक" है। अशुभ (पाप) वृत्ति को तिलाजलि दिये बिना शुभ (धर्म) प्रवृत्ति नही हो सकती। अत सर्वप्रथम समस्त पाप-प्रवृत्तियो का त्याग करने के लिए प्रेरित होना चाहिये। सावद्य योग का परिहार एव निरवद्य योग का सेवन ही सामायिक का लक्षण है।

समस्त शुभ-अशुभ योग-व्यापारो का त्याग तो अयोगी अवस्था मे शैलेशीकरण के समय ही होता है। उससे पूर्व शुभ (निरवद्य) योगो का व्यापार अवश्य होता हैं जो समस्त सावद्य योगो के परिहार से ही सम्भव होता हैं।

जब तक मन, वचन और काया हिंसा आदि पाप-व्यापारो मे सलग्न हैं, तब तक मन से शुभ विचार, वचन से शुभ उच्चार और काया से शुभ आचार कैसे हो सकते हैं? अशुद्धता को दूर करने से ही शुद्धता आती है। अशुभ के परिहार से ही शुभ का आविष्कार होता हैं। समस्त प्रकार के अशुभ व्यापारो का (दोषो का) अन्तर्भाव "आश्रवतत्व" मे हो जाता है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग—ये पाँच आश्रव के प्रमुख भेद हैं, अर्थात् कर्म-बन्ध मे मुख्य हेतु हैं। आत्मा को दूषित करने वाले होने के कारण ये "दोष" कहलाते हैं। ये पाँचों दोष ज्यो ज्यो घटते जाये, जीर्ण होते जायें, त्यों-त्यो सामायिक की विशुद्धि मे वृद्धि होती जाती है, जैसे —

(१) मिथ्यात्व के अभाव से परम विशुद्ध "सम्यक्त्व सामायिक" प्रकट होती है।

(२) अविरति एव प्रमाद के त्याग से परम विशुद्ध "सर्वविरति सामायिक" प्राप्त होती है।

(३) कषाय का विच्छेद होने से परम विशुद्ध "यथाख्यात" चारित्र (सामायिक) का लाभ होता है।

(४) मन, वचन और काया के समस्त व्यापारो का निरोध होने से परम विशुद्ध शैलेशीकरण-अयोगी अवस्था प्राप्त होती है।

आश्रव के निरोध का नाम सवर हैं। सामायिक संवर स्वरूप है।

परमात्मा की "आज्ञा" और "सामायिक"—आश्रव ससार का कारण है, सवर मोक्ष का कारण है। इस कारण ही आश्रव का त्याग और संवर का पूर्णत. स्वीकार जिनेश्वरो की आज्ञा है। अन्य समस्त आदेश और अनुष्ठान इसके ही विस्तार हैं।

सामायिक में उपर्युक्त समस्त आश्रवो (सावद्य योगो) का त्याग होता है और समस्त प्रकार के संवर (निरवद्य अनुष्ठान) का सेवन होता है, जिससे सामायिक जिनाज्ञा स्वरूप है। सामायिक के सेवन से जिनाज्ञा का पूर्णतया पालन होता है और जिनाज्ञा का पालन करने से अवश्य मोक्ष प्राप्त होता हैं। अत. समस्त मुमुक्षुओं का "सामायिक" आवश्यक कर्त्तव्य हैं।

इस विधेयात्मक सामायिक एव निषेधात्मक सामायिक मे समस्त मोक्ष-साधक अनुष्ठानो का अन्तर्भाव हो आता हैं।

"करेमि" शब्द के द्वारा समस्त प्रकार के शुभ अनुष्ठान करने का विधान है।

"पच्चक्खामि" शब्द के द्वारा समस्त प्रकार के अशुभ अनुष्ठानो को त्याग करने का निर्देश है।

"सव्वं" शब्द समस्त मूलगुणो एवं उत्तरगुणो का द्योतक है।

"जावज्जीवाए" पद से काल के नियम जीवन पर्यन्त की प्रतिज्ञा सूचित होती है। ऐसी प्रतिज्ञा साधु भगवन्तो को होती है।

"यावत्" शब्द परिणाम मर्यादा एव अवधारणा को सूचित करता है।

(१) परिणाम—जब तक मेरी आयु है, तब तक समस्त सावद्य योगो का मैं परित्याग करता हूँ।

(२) मर्यादा—प्रत्याख्यान के समय से प्रारम्भ करके मृत्यु तक मेरे समस्त सावद्य-योगो का त्याग है।

(३) अवधारणा—इस वर्तमान जीवन तक मेरी यह प्रतिज्ञा है, भावी जीवन की नही है, क्योकि देव आदि भव मे अविरति का उदय होने से प्रतिज्ञा भग का प्रसग आ जाता है, तथा इस जीवन के पश्चात् भावी जीवन मे मेरे छूट है अर्थात् मैं प्रतिज्ञामुक्त हूँ ऐसा विधान भी नही है क्योकि इस छूट मे भोग की आकाक्षा विद्यमान है।

तीन योग एव तीन करण (४, ५, ६) तिविह (न करेमि, न कारवेमि करतपि अन्न न समणुजाणामि)

(, ८, ६) तिविहेण (मणेण, वायाए, कायेण)

तीन योग एव तीन करण से अर्थात् मन, वचन और काया से कोई भी सावद्य कार्य मैं स्वय नही करूँगा, अन्य से नही कराऊँगा तथा करने वाले की अनुमोदना तक नही करूँगा और यह भी भूतकाल, भविष्यतकाल और वर्तमान काल से सम्बन्धित।

अशुभ अथवा शुभ प्रवृत्ति जिस प्रकार काया से हो सकती है, उसी प्रकार से मन-वचन से भी हो सकती है। यदि कोई प्रवृत्ति स्वय न करे परन्तु दूसरे से कराये तो भी उसमे उसकी अनुमति एव अनुमोदना होने से उस-उस प्रवृत्ति का वह साझीदार हो जाता है। इस कारण से ही सामायिक की प्रतिज्ञा मे तीन योग और तीन करण से सावद्य व्यापार का परित्याग किया गया है।

योग—करने, कराने और अनुमोदन करने के रूप मे व्यापार मन, वचन और काया रूप करण के अधीन है। प्रत्याख्यान मे योग की प्रधानता बताने के लिए प्रथम उसका निर्देश दिया है।

ये करण और योग भी जीव के ही परिणामविशेष हैं, जिससे निश्चय-नय से जीव के साथ उनकी एकता है। इस कारण से ही निश्चय-नय से हिंसा मे परिणत आत्मा ही हिंसा है और अहिंसा मे परिणाम वाली

आत्मा ही अहिंसा है। प्रमत्त को हिंसक और अप्रमत्त को अहिंसक कहा जाता है।

प्रश्न—वर्तमान एवं भविष्यत्काल के पाप का प्रत्याख्यान (सवरण) तो हो सकता है, क्योकि उस पाप का सेवन नही हुआ, परन्तु भूतकाल मे जो पाप किये जा चुके हैं, उनका संवरण किस प्रकार हो सकता है?

समाधान—भूतकाल मे किये गये पाप की निन्दा होती है अथवा भूतकाल में मुझसे जो पाप हो गये वह ठीक नही हुआ ऐसा पश्चात्ताप अर्थात् पाप की अनुमोदना का भी त्याग होता है, इस प्रकार भूतकालीन पाप की अविरति का परित्याग होता है, अत भूतकाल का पच्चक्खाण युक्ति-संगत है।

प्रश्न—सूत्र मे "करतपि अन्न" किस लिये है?

समाधान—(१) दोनो शब्दो के मध्य का "अपि" शब्द सम्भावना के अर्थ में है। वह यह सूचित करता हैं कि प्रमाद आदि के पाप मे प्रवृत्ति करती मेरी आत्मा की "यह तूने अच्छा किया है" ऐसी अनुमोदना नही करके 'मिच्छामि दुष्कृतम्" देकर निवृत्त होता हूँ, तथा अन्य कोई व्यक्ति पाप करता हो, कराता हो, अथवा उसकी अनुमोदना करता हो, उसकी भी मैं प्रशसा नही करूँगा।

जो स्वय पाप-कर्म करते हो उनसे पाप-कर्म नही कराऊँगा।

जो दूसरो से पाप प्रवृत्ति कराते हो उनसे भी नही कराऊँगा।

तथा जो पाप प्रवृत्ति की अनुमोदना करते हों उनकी भी मैं अनुमोदना नही करूँगा। सम्भवत इन सब प्रकारों का समावेश "अपि" शब्द से होता है।

(२) अथवा "अपि" शब्द वर्तमानकाल के साथ भूतकाल और भविष्यतकाल की प्रतिज्ञा का भी सूचक है। भूतकाल में यदि मैंने स्वयं पाप किया हो, दूसरो से कराया हो, अथवा किसी के पाप-कार्य की प्रशसा की हो उन सबकी मैं अनुमोदना नही करूँगा, तथा भविष्य मे जो कोई पाप-प्रवृत्ति करेगा, दूसरों से करायेगा अथवा पाप की प्रशसा करेगा उसकी भी मैं अनुमोदना नही करूँगा।

(३) अन्य प्रकार से भी इस प्रतिज्ञा मे तीनो कालो का समावेश है। "सर्व" शब्द से तीनों कालो का संग्रह किया है, और "अपि" शब्द से तीन काल से सम्बन्धित कर्तृ-क्रिया का कथन है। जिस प्रकार वर्तमान मे मैं पाप-कार्य नही करूँगा, नही कराऊँगा अथवा करने वाले को अनुमोदना

भी नही करूँगा, उसी प्रकार से भूतकाल और भविष्यतकाल मे भी समझ लें। परन्तु इतनी विशेषता मुख्यत लक्ष्य मे रखें कि भूतकाल के पापो की अनुमोदना का त्याग हो सकता है और भविष्यतकाल का प्रत्याख्यान भी इस जीवन के लिए ही हो सकता है।

अतीत काल के पाप-कर्म का प्रतिक्रमण, वर्तमान काल के पाप-कर्म का सवरण और भविष्यतकाल के पाप-कर्म का प्रत्याख्यान होता है।

चार प्रतिज्ञा—(१०, ११, १२, १३) तस्स भन्ते पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि अप्पाण वोसिरामि।

(१) हे भगवन् ! भूतकाल मे किये गये अनेक पापकर्मों का मैं पश्चात्ताप करता हूँ।

(२) हे भगवन् ! भूतकाल मे किये गये अनेक पाप-कर्मों की मैं निन्दा करता हूँ।

(३) हे भगवन् ! भूतकाल मे किये गये अनेक पाप-कर्मों की मैं गुरु-साक्षी से गर्हा—विशेष निन्दा करता हूँ।

(४) तथा उन पाप-व्यापारो से मलिन बनी मेरी आत्मा का मैं त्याग करता हूँ।

विशेषार्थ—(१) प्रतिक्रमण "ज्ञान-स्वरूप" है, क्योकि उसमे पाप का पाप के रूप मे यथार्थ बोध हुआ है, जिससे पाप का सच्चा पश्चात्ताप होने से प्रतिक्रमण हो सकता है, अथवा प्रतिक्रमण पूर्व दोषो (मल) की शुद्धि के लिए होने से "विरेचन" के स्थान पर है।

(२) पाप की निन्दा "सम्यग्दर्शन" स्वरूप है, क्योकि उसमे पाप को पाप के रूप मे श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया गया है, अथवा पाप निन्दा अपथ्य भोजन के परित्याग के समान है, क्योकि सम्यक्त्व के द्वारा मिथ्यात्व, शका, काक्षा आदि दूर होते हैं।

(३) पाप की गर्हा "चारित्र" स्वरूप है, क्योकि उसमे गुरु-साक्षी से पाप का परिहार होता है, अथवा गर्हा पथ्य भोजन के स्थान पर है जो पथ्य भोजन की तरह आत्म-गुणो को पुष्ट करती है।

(४) आत्म-विसर्जन— पापयुक्त आत्मा का विसर्जन "तप" स्वरूप है, क्योकि उसमे पाप न करने का प्रबल पुरुषार्थ है और वह (सावद्य आत्म-विसर्जन) आत्म-गुणो को रसायन की तरह पुष्ट करता है।

सामान्य रीति से त्रिकाल विषयक पाप की प्रतिज्ञा मे से भूतकालीन पाप का प्रतिक्रमण होता है। "तस्स" शब्द के द्वारा भूतकाल विषयक पाप ग्रहण किया गया है।

'भन्ते ! हे भगवन्,' इस पद की व्याख्या पूर्व मे की गई है तदनुसार समझें ।

प्रश्न—प्रारम्भ मे कथित अर्थ की अनुवृत्ति अन्त तक चल सकती है, तो फिर "भन्ते" का प्रयोग पुन क्यो किया गया है ?

समाधान—(१) आपका कथन सत्य है, परन्तु केवल अनुवृत्ति से विधि-विधान की प्रवृत्ति नहीं होती, प्रयत्न करने से होती है । यहाँ भी पूर्व कथित अर्थ के स्मरणार्थ प्रयत्न किया गया है ।

(२) अथवा प्रस्तुत सामायिक की क्रिया समाप्त करके साधक उस सामायिक के दोषो की विशुद्धि के लिये उसके (सामायिक के) अतिचारो का निवर्तन आदि करने के लिए "भन्ते" शब्द का पुनरुच्चार करता है ।

(३) अथवा समस्त आवश्यक कर्तव्य गुरु को पूछ कर उनकी सम्मति से करने चाहिये । अतः यहाँ भी प्रतिक्रमणरूप सामायिक के अतिचारों की शुद्धि के लिए पुन· गुरु को पूछता है ।

(४) अथवा तो यह "भन्ते" शब्द सामायिक क्रिया के प्रत्यर्पण-निवेदन के रूप मे है । कहा भी है कि गुरु को आज्ञा से प्रारम्भ की गई क्रिया की समाप्ति के समय गुरु को निवेदन करना चाहिए कि—"यह क्रिया समाप्त कर दी गई है ।"

निन्दा एव गर्हा दोनो शब्द सामान्यतया जुगुप्सा का अर्थ सूचित करते है, फिर भी गर्हा के द्वारा विशेष जुगुप्सा होती है । निन्दा आत्म-साक्षी से होती है और गर्हा गुरु की साक्षी से होती है ।

प्रश्न——जुगुप्सा किसकी करनी चाहिये ?

समाधान—भूतकाल मे सावद्य-पाप करने वाली, अश्लाघ्य-अप्रशस्त-भूत बनी अपनी आत्मा की जुगुप्सा करनी चाहिए । पाप करने वाले दूसरे व्यक्ति की नही परन्तु पाप करने वाली स्वय की आत्मा की ही निन्दा-गर्हा करनी होती है, आत्म-निन्दा गुण है, पर-निन्दा दोष है ।

वोसिरामि-व्युत्सृजामि—वि=विविध प्रकार से अथवा विशेष से, उत्=प्रबलता से, सृजामि=त्याग करता हूँ, अथवा सामायिक के तीन प्रकार हैं—सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्र । उनके विलोम मिथ्यात्व, अज्ञान एव अविरति हैं । वोसिराम=अपने उन तीनो दोषो का विशेष प्रकार से त्याग करता हूँ । यह है वोसिराम शब्द का भावार्थ ।

इस प्रकार "सामायिक सूत्र" में त्याज्य क्या और आदरणीय क्या ? आदि बिन्दुओ पर सक्षेप मे विचार किया गया ।

✱

विभाग—३

परिशिष्ट

प्रस्तुत विभाग मे वर्णित लेखो का पठन मनन-चिन्तन करने से सामायिक धर्म की परिपूर्णता, विशालता और उपादेयता का स्पष्ट ध्यान आता है।

योगशास्त्रों मे प्रसिद्ध "समापत्ति" क्या है ? उसका सामायिक, कायोत्सर्ग और गुणश्रेणी आदि के साथ कार्य-कारण-भाव का सम्बन्ध है, आदि बातो पर प्रकाश डाला गया है।

गुणश्रेणी एव कायोत्सर्ग भी सामायिक के ही अग हैं। इन दोनो के द्वारा आत्म-परिणामो की विशेष-विशेष विशुद्धि होने पर सामायिक—समताभाव की ही अभिवृद्धि होती है—आदि बातो को प्रस्तुत लेखो मे स्पष्ट किया गया है।

❋❋

१. समापत्ति और सामायिक

समापत्ति—सम की आपत्ति प्राप्ति=समता की प्राप्ति ।

सामायिक—सम का आय-लाभ, प्राप्ति ।

इस प्रकार समापत्ति और सामायिक एकार्थक (पर्यायवाची) एक ही अर्थ बताने वाले हैं परन्तु उनमे भेद केवल कार्य-कारणभाव का है ।

ध्यान का फल समता रूप सामायिक है ।

(१) मिथ्यादृष्टि अभव्य को भी श्रुत सामायिक अर्थात् द्रव्य-मिथ्या श्रुत प्राप्त हो सकता है । उसी प्रकार से उसे द्रव्य[1] समापत्ति घटित हो सकती है, परन्तु भाव-समापत्ति नही हो सकती ।

(२) मन्द मिथ्यात्वदशा मे चरम यथा-प्रवृत्तिकरण के समय तथा अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के समय भी श्रुत सामायिक की तरह उसकी हेतुभूत समापत्ति भी अवश्य होनी चाहिये ।

(३) सम्यक्त्व सामायिक, देशविरति सामायिक और सर्वविरति सामायिक को प्राप्त करने के समय समापत्ति अवश्य सिद्ध होती है ।

(४) उसके आगे की अप्रमत्त आदि भूमिकाओ में शुद्ध सामायिक—'आया सामाइये" अर्थात् आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप मे ही परिणत होती है, उस समय भी उसकी अनन्तर कारणभूत ध्याता, ध्येय एव ध्यान की एकता रूप समापत्ति अवश्य होती है ।

स्वभूमिका के योग्य अनुष्ठान की भावपूर्वक आराधना होने से आत्मवीर्य-शक्ति पुष्ट होती है, जिससे ध्यान की निर्मलता, स्थिरता एव तन्मयता होने पर समापत्ति सिद्ध होने से स्थिर-समता भाव प्रकट होता है । वही "शुद्ध सम्यक् सामायिक" है । उससे शुक्लध्यान प्रकट होता है और शुक्लध्यान से क्रमशः केवलज्ञान और सिद्धि पद प्राप्त होता है ।

इस प्रकार "समापत्ति" सामायिक-समता का कारण है और समता

---

१ द्रव्य—विपयक समापत्ति—अर्थात् तीन योगो, तीन करणो से होता विषय का ध्यान, अर्थात् विषय समापत्ति ।

आगे सिद्ध होने वाली समापत्ति का कारण बनती है। इस प्रकार दोनों का परस्पर कार्य-कारणभाव होने से ये एक दूसरी की वृद्धि करने वाली हैं।

ध्यानरूप समापत्ति से समता की वृद्धि और समता से समापत्ति की विशुद्धि होती है।

न साम्येन विना ध्यान, न ध्यानेन विना च तत्।
निष्कंप जायते तस्मात् द्वयमन्योन्य कारणम्॥ (योगशास्त्र)

समापत्ति का लक्षण –

मणेरिवाभिजातस्य, क्षीणवृत्तेरसशयम्।
तात्स्थ्यात्तद जनत्वाच्च, समापत्ति प्रकीर्तिता॥
(उपा० यशो वि० म० द्वा० द्वा० २-१०)

निर्मल मणि की तरह क्षीणवृत्ति युक्त निर्मल चित्त के ध्येय मे स्थिरता और तन्मयता होने पर समापत्ति सिद्ध होती है।

लाल पीले पुष्प के समीपस्थ निर्मल एवं स्थिर स्फटिक मे पुष्प के रग की परछाई पडने से स्फटिक भी लाल अथवा पीला प्रतीत होता है, उसी प्रकार से अन्तरात्मा जब विषय-कषाय की मलिन वृत्तियों को दूर करके निर्मल बनती है और स्थिरतापूर्वक परमात्मा का ध्यान करती है, तब "परमात्मा ही मैं हूँ" ऐसा "सोऽहं—सोऽहं" का अस्खलित अनाहत नाद प्रकट होता है और उक्त नाद दीर्घ घटा-नाद की तरह क्रमश शान्त-मधुर होने पर आत्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव होता है, तथा परम आनन्द, शीतलता और सुख की अनुपम मस्ती में तल्लीनता होती है, उसे समापत्ति कहते हैं।

मणाविव प्रतिच्छाया समापत्ति परात्मनः।
क्षीणवृत्तौ भवेद् ध्यानादन्तरात्मनि निर्मले॥

मणि की तरह निर्मल, क्षीण वृत्तियुक्त, अन्तरात्मा में एकाग्र ध्यान के द्वारा परमात्मा का जो प्रतिबिम्ब पडता है वही "समापत्ति" है अथवा अन्तरात्मा मे परमात्मा के गुणो का अभेद आरोप करना समापत्ति है। वह अभेद आरोप गुणो के ससर्गारोप से सिद्ध होता है। ससर्गारोप अर्थात् सिद्ध परमात्मा के अनन्त गुणों मे अन्तरात्मा का एकाग्र उपयोग, ध्यान अथवा स्थिरता होना। ससर्गारोप भी चित्त की निर्मलता होने से ही होता है।

समापत्ति की सामग्री—

(१) निर्मल ध्याता निर्मल अन्तरात्मा (देह आदि भावो का साक्षी मात्र)

(२) शुभ ध्येय - ध्येय अशुद्ध हो तो समापत्ति नही हो सकती। अत: ध्येय की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है।

(३) शुभ ध्यान— आदर-सम्मान पूर्वक एकाग्र शुभ चिन्तन।

परमात्म समापत्ति सिद्ध करने के लिए चित्त को निर्मल, स्थिर एव तन्मय बनाना चाहिये अथवा शास्त्रोक्त किसी भी अनुष्ठान के विधिपूर्वक पालन से जब चित्त की निर्मलता, स्थिरता एव तन्मयता प्राप्त होती है, तब परमात्मा के साथ समापत्ति सिद्ध होती है।

नाम आदि निक्षेप एवं समापत्ति—

श्री "अनुयोग द्वार" एव विशेषावश्यक भाष्य आदि ग्रन्थो मे चार निक्षेप का विस्तृत विवेचन किया गया है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव ये चारो वस्तु के ही पर्याय हैं। भाव साध्य है। नाम, स्थापना और द्रव्य उसके साधन हैं। किसी भी वस्तु का स्पष्ट स्वरूप इन चार प्रकार के निक्षेपो के चिन्तन के बिना समझ मे नही आता।

प्रस्तुत मे समापत्ति के स्वरूप का विचार चार निक्षेपो के द्वारा करना है, ताकि आगम-ग्रन्थो के गूढ रहस्यो को भी सरलतापूर्वक समझा जा सके।

(१) **नाम समापत्ति** - किसी भी जीव अथवा अजीव वस्तु का नाम 'समापत्ति" हो तो वह नाम मात्र से समापत्ति कहलाती है।

(२) **स्थापना समापत्ति**—समापत्ति ये चार अक्षर अथवा उनकी आकृति स्थापना समापत्ति है।

(३) **द्रव्य समापत्ति** -भाव समापत्ति की पूर्व अथवा उत्तर अवस्था, अथवा समापत्ति के स्वरूप का अनुपयुक्त (उपयोग रहित) ज्ञाता द्रव्य समापत्ति है।

(४) **भाव समापत्ति** - आगम और नोआगम दो भेद हैं।

(१) **आगम[1] से भाव समापत्ति**—समापत्ति के स्वरूप को स्पष्टत

---

१ यहाँ आगम का अर्थ श्रुतज्ञान है, उसके उपयोगयुक्त समापत्ति।

जान कर उसमें उपयोग वाला ध्याता ही आगम से भाव-समापत्ति कहलाता है।

(२) नो१ आगम से भाव समापत्ति – ध्याता, ध्येय और ध्यान से एकता नो आगम से भाव समापत्ति कहलाती है।

इस प्रकार जिस वस्तु का वर्णन प्रस्तुत में विवक्षित होता है, उस वस्तु का नोआगम (की अपेक्षा से) भाव-निक्षेप के द्वारा निर्देश दिया जाता है और आगम से भाव निक्षेप के द्वारा प्रस्तुत पदार्थ के उपयोग वाले ज्ञाता का निर्देश होता है।

जिस प्रकार योगशास्त्र मे ध्येयाकार मे तन्मय बने ध्याता का निर्देश समापत्ति के द्वारा दिया जाता है, उसी प्रकार से आगम ग्रन्थों में ज्ञेयाकार मे तन्मय बने ज्ञाता का निर्देश आगम से भाव निक्षेप के द्वारा दिया जाता है।

"पातजल योगदर्शन" मे समापत्ति का लक्षण निम्नलिखित है—

"क्षीणवृत्तेरभिजातस्य मणे गृहीत-ग्रहण-ग्राह्येषु-तत्स्थ्य तदञ्जनता समापत्ति ॥'

उत्तम जाति की स्फटिक मणि के समान राजस एवं तामस वृत्ति रहित निर्मल चित्त की गृहीता, ग्रहण और ग्राह्य (ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय) विषयो में स्थिरता होकर तन्मयता (वह स्वरूपमय स्थिति) हो, वह "समापत्ति" है। उक्त समापत्ति यदि शब्द अर्थ और ज्ञान के विकल्पो से युक्त हो तो वह 'सवितर्क" अथवा "सविकल्प" समापत्ति कहलाती है। यदि शब्द एवं ज्ञान से रहित केवल ध्येयाकार (अर्थ) के रूप में प्रतीत होती हो तो वह "निवर्तक" अथवा 'निर्विकल्प" समापत्ति कहलाती है।

उपर्युक्त दोनों भेद स्थूल-भौतिक पदार्थ-विषयक समापत्ति के हैं।

सूक्ष्म परमाणु आदि विषयक वाली समापत्ति को "सविचार' एव "निर्विचार" समापत्ति कहते हैं।

इन चारो प्रकार की समापत्ति को "सप्रज्ञात समाधि" भी कही जा सकती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है जो कि जब ज्ञाता के उपयोग की ज्ञेयाकार के रूप मे परिणति होती है, तब वह समापत्ति कहलाती है।,

---

१ नोआगम का अर्थ—आगम के एक अंश का अभाव, यहाँ श्रुतज्ञान और ध्यानरूप क्रिया दोनो की विवक्षा होने से निषेधक "नो" का प्रयोग आगम के एकदेश के निषेधार्थ हुआ है।

आगम की दृष्टि से—जिन पदार्थो का ज्ञाता उनके उपयोगवाला हो तो उक्त ज्ञाता भी तत्परिणत होने से आगम से भाव निक्षेप के द्वारा वह तत्स्वरूप कहलाता है, जैसे नमस्कार[1] मे उपयोग वाली आत्मा नमस्कार परिणत होने से वह नमस्कार कहलाती है ।

ध्येयरूप अरिहन्त परमात्मा के चार निक्षेप—

(१) नाम अरिहन्त – अरिहन्त परमात्मा का नाम ।

(२) स्थापना अरिहन्त—अरिहन्त परमात्मा की मूर्ति ।

(३) द्रव्य अरिहन्त – अरिहन्त परमात्मा की पूर्व अवस्था अथवा सिद्ध अवस्था ।

(४) भाव अरिहन्त - दो भेद—

(१) नोआगम से भाव अरिहन्त—समवसरण स्थित अरिहन्त परमात्मा ।

(२) आगम से भाव अरिहन्त –अरिहन्त परमात्मा के उपयोग मे तदाकार बनी आत्मा आगम से "भाव अरिहन्त" कहलाती है । यही वात प्रस्तुत समापत्ति के स्वरूप मे भी घटित होती है ।

ध्येय रूप परमात्मा के ध्यान में तन्मय बनी आत्मा की समापत्ति सिद्ध हुई कहलाती है, और वही ध्याता आगम से भाव निक्षेप मे 'अरि-हन्त' कहलाता है । इस प्रकार "आगम से भाव निक्षेप" एव "समापत्ति" के विपय की समानता सूक्ष्म दृष्टि से विचारणीय है ।

(१) नाम एवं स्थापना निक्षेप—अरिहन्त एव सिद्ध परमेष्ठियो के नाम—स्मरण एव मूर्तियो के दर्शन से चित्त निर्मल बनता है ।

(२) द्रव्य निक्षेप अरिहन्त आदि परमेष्ठियो की पूर्व अथवा उत्तर अवस्था के चिन्तन से चित्त स्थिर होता है ।

(३) भाव-निक्षेप—नो आगम से समवसरण स्थित अरिहन्त के ध्यान से चित्त तन्मय होने पर समापत्ति सिद्ध होती है, तव साधक आगम से भाव निक्षेप से अरिहन्त कहलाता है । नाम आदि प्रत्येक निक्षेप की साधना से भी समापत्ति सिद्ध हो सकती है, परन्तु जो साधक 'आगम से भाव निक्षेप से" अरिहन्त अथवा सिद्ध बनता है, वही क्रमानुसार "नोआगम से भाव निक्षेप से" अरिहन्त अथवा सिद्ध बन सकता है ।

---

१ "नमोक्कार परिणओ जो तओ नमोक्कारो ।" (विशेपावश्यक—गाथा २९३२)

आगम-नोआगम तणो भाव ते जाणो साचो रे।
आतम भावे थिर होजो, पर भावे मत राचो रे॥

(उ० यशोवि० म०)

आगम से और नोआगम से भाव ही वास्तविक भाव है, वस्तु का मूल स्वरूप है। अत आत्म-भाव मे स्थिर रहना चाहिए, पर-भाव में प्रमुदित नही होना चाहिये अर्थात् बहिरात्म भाव को दूर करके अन्तरात्म-भाव मे स्थिर होना चाहिये, ताकि परमात्म-स्वरूप मे तन्मय होने पर आत्म-स्वभाव प्रकट होता है।

शेष नाम आदि दान, शील, तप आदि भाव उत्पन्न करने के लिए हैं।

इस प्रकार से शास्त्रोक्त समस्त अनुष्ठान आत्मा के पूर्ण, शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने के लिये ही हैं। आत्मा का शुद्ध स्वरूप परमात्मध्यान में तन्मय हुए बिना प्राप्त नही हो सकता।

२. समापत्ति और समाधि

समापत्ति ध्यान विशेष है। ध्यान के सतत अभ्यास से ध्याता ध्यान के द्वारा ध्येय के रूप मे परिणमित होता है वह "समापत्ति" है, और उसका फल समाधि (समता) की प्राप्ति है। योग के यम-नियम आदि आठ अगो में उसका अन्तिम स्थान है। यम, नियम, प्रत्याहार, धारणा अथवा ध्यान का अन्तिम ध्येय "समाधि" है। किसी भी योग-साधना से जब समापत्ति अथवा समाधि सिद्ध होती है तब ही उस योग-साधना की सफलता हुई मानी जाती है।

समापत्ति का निमित्त आदरपूर्वक सदनुष्ठान का सेवन है और समाधि का अनन्तर कारण समापत्ति है, जिसके कारण मे कार्य (उपचार) की अपेक्षा से समापत्ति को सामायिक (समाधि) भी कही जा सकती है, क्योकि सामायिक, समतायोग, शम, चारित्र, सवर आदि इसके ही पर्याय हैं।

(१) राग-द्वेष रहित (अवस्था) भाव ही "सम" है और उसकी प्राप्ति ही "सामायिक" है। विकल्प-विषय से रहित, सदा स्वभाव के आलम्बन से युक्त, ज्ञान की परिपक्व दशा को "शम" कहते हैं। अविद्या—अनादिकालीन मिथ्या-वासना-वश इष्ट अथवा अनिष्ट पदार्थों मे होने वाली इष्ट-अनिष्ट कल्पना का सम्यग्ज्ञान के द्वारा त्याग करना ही "समता-योग" है।

निज आत्म-स्वभाव मे रमण करना ही निश्चय चारित्र है। विषय-कषाय की वृत्तियो, अव्रत अथवा अशुभ योग का निरोध करना ही "सवर" है।

ये समस्त लक्षण समापत्ति अथवा समाधि मे भी घटित होते हैं, क्योकि चित्त की निर्मलता, स्थिरता और तन्मयता के द्वारा 'समापत्ति" सिद्ध होती है और उससे समाधि प्रकट होती है।

समग्र मोक्षमार्ग का (समापत्ति) समाधि में समावेश—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ही मोक्षमार्ग है। समग्र मोक्ष-साधक सदनुष्ठानों का समावेश इस रत्नत्रयी में है। इस सम्यग्-रत्नत्रयी के द्वारा क्रमानुसार विशुद्ध-विशुद्ध समाधि (समता) प्राप्त होती होने से इसे "दर्शन-समाधि", "ज्ञान-समाधि", एव "चारित्र-समाधि" भी कहते हैं।

कर्म के क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम की अपेक्षा से समाधि के अनेक भेद होते हैं, तो भी उन सब भेदो का समावेश दर्शन आदि तीन समाधियो मे हो जाता है।

- दर्शन-समाधि—सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति के समय जो आनन्द, सुख, समता और शान्ति का अनुभव होता है वह "दर्शन-समाधि" कहलाती है। उसके मुम्य तीन भेद हैं—(१) क्षयोपशम दर्शन-समाधि, (२) उपशम दर्शन-समाधि और (३) क्षायिक दर्शन-समाधि। इन तीनों समाधियों को प्राप्त करने के लिए उससे पूर्व भी अनेक प्रकार की अवान्तर समाधियें सिद्ध करनी पड़ती हैं; जैसे—

(१) योग की प्रथम मित्रा दृष्टि में "अवंचकत्रय" की प्राप्ति से सद्गुरु का योग आदि प्राप्त होता है। "यह अवंचक एक प्रकार की[1] अव्यक्तसमाधि ही है।"

(२) योग की चतुर्थ दीप्रा दृष्टि में गुरु-भक्ति के प्रभाव से समापत्ति समाधि विशेष आदि के योग से तीर्थंकर भगवान का दर्शन होना बताया है। समापत्ति समाधि विशेष ही है और वह यहाँ चरम-यथाप्रवृत्तिकरण की विशुद्धि के प्रकर्ष से सिद्ध होती है (योगदृष्टि श्लोक ६४)।

(३) अपूर्वकरणरूप समाधि के द्वारा ग्रन्थि (राग-द्वेष की तीव्र गाँठ) का भेदन होता है।

(४) अनिवृत्तिकरण रूप समाधि के द्वारा नियमा "सम्यग्-दर्शन" रूप समाधि प्रकट होती है।

ज्ञान-समाधि—(१) क्षायोपशमिक ज्ञान-समाधि और (२) क्षायिक (केवल) ज्ञान-समाधि रूप है।

(१) क्षायोपशमिक ज्ञान समाधि—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यव इस

---

१ अवंचक—अव्यक्त समाधिरेवेप - तदधिकारेपाठात्।

क्षायोपशमिक ज्ञान के चार प्रकार हैं। सम्यग्दर्शन के साथ चार, तीन अथवा दो ज्ञान की उपस्थिति मे एक साधक के आधार पर भी विशुद्धि के तारतम्य से अनेक प्रकार की समाधियाँ घटित होती हैं, तब अनेक साधको की अपेक्षा से तो समाधि के अनेक भेद होने की वात तो स्पष्ट समझी जा सकती है।

(२) क्षायिक (केवल) ज्ञान समाधि—एक अथवा अनेक व्यक्तियो की अपेक्षा से भी एक ही प्रकार की होती है, क्योकि वह पूर्णत. शुद्ध है। पूर्ण शुद्धता के भेद नही होते।

(३) चारित्रसमाधि—मुख्यत ये तीन प्रकार की होती है—(१) क्षयोपशम-चारित्र समाधि, (२) उपशम चारित्र समाधि, (३) क्षायिक चारित्र समाधि। चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम, उपशम तथा क्षय से ये तीनो उत्पन्न होती है। देशविरति चारित्र-समाधि, सर्वविरति चारित्र-समाधि और अप्रमत्त आदि गुण-स्थान मे उत्पन्न होने वाली विशुद्ध-विशुद्धतर समाधि के अनेक भेदो का समावेश उपर्युक्त तीन प्रकार की चारित्र-समाधियो मे हो चुका है। विस्तार से तो चारित्र (सयम) के असख्य अध्य-वसाय-स्थान होने से चारित्र-समाधि के असख्य भेद हो सकते हैं।

अन्त मे समग्र कर्मों का क्षय भी शैलेशी की अन्तिम चारित्र समाधि से ही होता है। अत योग-विन्दु मे स्पष्ट कहा है—

शैलेशीसज्ञिताश्चेह - समाधिरुपजायते।
कृत्स्नकर्मक्षयतोऽय - गीयते वृत्ति-सक्षय ॥ ४६५ ॥

"शैलेशीकरण रूप समाधि से समग्र कर्मो का क्षय होता है, उस 'शैलेशी" नामक समाधि को ही "वृत्तिसक्षय" योग कहते हैं और वह समस्त योगो का राजा है।"

ममाधि का स्पष्ट लक्षण—

तथा तथा-क्रियाविष्ट समाधिरभिधीयते।
निष्ठाप्राप्तस्तु योगज्ञैर्मुक्तिरेष उदाहृत. ॥ ४६६ ॥

वृत्ति-तथा तथा, तेन तेन प्रकारेण, क्रिया विस्टस्तत्तत्कर्म-क्षपणाय प्रवृत्तोयोग समाधिरभिधीयते—उस-उस प्रकार से—उस-उस कर्म का क्षय करने के लिए प्रवृत्त योग ही "समाधि" है।

निष्ठाप्राप्तस्तु-कर्मक्षमपणपर्यन्त प्राप्त पुन योगज्ञै—अध्यात्मादि-योग-विशारदै मुक्तिरेष योग उदाहृत—निरूपित।

समस्त कर्मों के क्षयपर्यन्त को (अन्त को) प्राप्त योग को ही अध्यात्म-योग के विशारद "मुक्ति" कहते हैं।

समाधि के इस लक्षण से योग एव समाधि की एकता स्पष्ट समझी जा सकती है, तथा वे-वे मिथ्यात्व आदि कर्म-क्षय (क्षयोपशम अथवा उपशम) के लिए प्रवृत्त ध्यान आदि योग भी "समाधि विशेष" है। अत. अवचक योग, चरमयथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण तथा सम्यग्दर्शन आदि एव समस्त प्रकार की समापत्ति, गुण श्रेणी तथा सम्यग् दृष्टि आदि चार से चौदह गुणस्थानको आदि को भी अपेक्षा से अव्यक्त अथवा व्यक्त समाधि-विशेष (भी) कहा जा सकता है।

अन्य दर्शनो मे बताई गई सप्रज्ञात समाधि (समापत्ति) असप्रज्ञात सपाधि धर्ममेघ समाधि, अमृतात्मा, भवशक्रशिवोध्य, सत्वानन्द समाधि, विजय समाधि और आनन्द समाधि आदि समस्त प्रकार की समाधियो का उपर्युक्त समाधियो मे समावेश हो चुका है।

(योगविन्दु श्लोक ४१६, ४२१, ४२२)

तथा स्थितप्रज्ञ की सहज स्थिति का भी "चारित्र समाधि" मे समावेश किया जा सकता है, अर्थात् ऐसी कोई समाधि, प्रज्ञा अथवा योग विशेष नही है जिसका उपर्युक्त समाधि मे अन्तर्भाव न हुआ हो।

अत समस्त प्रकार के अध्यात्म आदि योगो का भी समाधि मे ही अन्तर्भाव हो चुका होने से समग्र मोक्ष-मार्ग की साधना समाधि मे समाविष्ट है, यह स्पष्ट समझा जा सकता है।

"समाधि और समापत्ति की कुछ एकता है।"

मनुष्य जब तीनो योगो की एकाग्रता करता है तब ही वह किसी भी नवीन वस्तु की खोज कर सकता है अथवा अपूर्व आध्यात्मिक भूमिका मे प्रवेश कर सकता है।

समापत्ति अर्थात् मन, वचन, काया की निर्मलता, स्थिरता, एकाग्रता एवं तन्मयता होना, ध्येय पदार्थ मे चित्त को एकाकार करना, जिससे अपना स्वरूप भी ध्येय के रूप मे ज्ञात हो। जब-जब आत्मा प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा आत्मवीर्य प्रकट करके कठिन-मिथ्यात्व आदि कर्म-पुजो का क्षय करने के लिये तत्पर होती है, तब-तब उसे मन, वाणी और शरीर को अत्यन्त एकाग्र करना पडता है। उसे ही "समपत्ति" कहते हैं, जिसके फल-स्वरूप आत्मा अमुक समय तक सहज स्वाभाविक अनुपम समता-सुख का

अनुभव करती है, उसे ही "समाधि" जानें और वह आगे की "समापत्ति" मे कारणभूत बनती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर कार्य-कारण-भाव सिद्ध होता होने से दोनो की भिन्नता होने पर भी कथचित् एकता है।

समापत्ति का फल--

गुरु-भक्ति प्रभावेन, तीर्थकृद् दर्शन मत।
समापत्त्यादि भेदेन, निर्वाणैकनिबन्धनम् ॥ ६४ ॥

(योगदृष्टि)

ध्याता, ध्येय एव ध्यान की एकता होने को समापत्ति कहते हैं।

गुरुभक्ति के प्रभाव से समापत्ति सिद्ध होती है और समापत्ति के द्वारा (ध्यान की स्पर्शना) तीर्थंकर भगवान के दर्शन प्राप्त होते है और उक्त दर्शन से शीघ्र मुक्ति प्राप्त होती है। (अथवा तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित होता है, क्रमानुसार उक्त कर्मोदय से तीर्थंकर बनता है।)

परमात्मा के समक्ष आत्म-समर्पण करना ही समापत्ति है। जब चित्त विशुद्ध (निर्मल) स्थिर और तन्मय होता है तब ही समापत्ति अथवा आत्मार्पण हो सकता है। अहिंसा आदि समस्त धर्म अनुष्ठानो की विधिपूर्वक आराधना करने से क्रमश. "समापत्ति" सिद्ध होती है।

समापत्ति के साधन—

अहिंसा, संयम एवं तप रूप धर्म से समाप त्त—धर्म ही उत्कृष्ट मगल है अर्थात् ऐसा धर्म ही समस्त जीवो का परम कल्याण करने मे समर्थ है। ऐसे धर्म का पूर्णत पालक साधक भी समस्त जीवो का परम कल्याण करने के लिये समर्थ होता है, जिससे वह स्व-आत्मा का सम्पूर्ण शुद्ध स्वरूप प्रकट करता है और तब परमात्मा के साथ भेद सम्बन्ध मिट जाता है तथा सदा शाश्वत् काल का समागम प्राप्त होता है।

अहिंसा—समस्त जीवो को किसी भी प्रकार की पीडा-व्यथा नही देनी ही वास्तविक अहिंसा है, दया है। हिंसा से हृदय मे कठोरता आती है और अहिंसा से कोमलता-मृदुता आती है, हृदय सुकोमल बनता है। परस्पर उपकार करना जीव का स्वभाव है। सम्पूर्ण अहिंसा के पालन से समस्त जीव राशि को अभय करने से उनके साथ तात्त्विक सम्बन्ध स्थापित होता है, समस्त जीवो के साथ औचित्य का पालन होता है।

संयम—आत्म-स्वभाव को पूर्णत प्रकट करना ही आत्मा का परम लक्ष्य है, मुख्य साध्य है।

असयम (इन्द्रिय, कषाय, अव्रत एव अशुभयोग) की निवृत्ति से संयम का पालन होता है। ज्यो,ज्यो सयम विशुद्ध बनता है, त्यो-त्यो आत्म-स्वभाव विशुद्ध होता जाता है। सम्पूर्ण शुद्ध सयम के पालन से सम्पूर्ण (आत्म) विशुद्धि होती है। इस प्रकार सयम पालन करके स्व आत्मा के साथ एकता (तात्विक सम्बन्ध) स्थापित होती है।

तप– बाह्य एवं आभ्यन्तर तप—यह आत्मा एव परमात्मा के मध्य का भेदभाव दूर करके अभेद सम्बन्ध स्थापित करता है। दोनो के मध्य भेद कर्म का है, और ज्यो-ज्यो तप के द्वारा कर्मों का क्षय होता है त्यो-त्यो आत्मा विशुद्ध बनती है, और कर्म से जितना भेद टूटता है, उतना परमात्मा के साथ अभेद सिद्ध होता है।

अनशन आदि बाह्य तप के द्वारा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावच्च एव शास्त्र के पठन-पाठन मे वृत्तियें एकाग्र हो जाती हैं, जिससे क्रमश ध्यान एव कायोत्सर्ग मे भी अपूर्व स्थिरता आती है।

ध्यान एवं कायोत्सर्ग के द्वारा परमात्म-स्वरूप मे लीन बनी आत्मा क्रमश चार घाती कर्मो का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करती है, और अन्त में जब शैलेशीकरण के द्वारा चार अघाती कर्मो का भी क्षय करके सिद्धिपद प्राप्त करती है, तब आत्मा समस्त भेदो का भ्रमजाल तोडकर स्वय परमात्मा बनती है, तब उसका शाश्वत समागम प्राप्त करती है।

इस प्रकार अहिंसा पुण्यानुबन्धी पुण्य की पुष्टि करती हैं। "सयम" नवीन कर्मों को रोककर क्रमश पूर्ण सवर भाव उत्पन्न करता है और तप "निर्जरा" तत्त्व स्वरूप है, अश-अश करके कर्मो का क्षय करके क्रमशः सम्पूर्ण कर्म-क्षय-स्वरूप 'मोक्ष" प्राप्त कराता है, आत्मा के पूर्ण शुद्ध स्वरूप को प्रकट करता है।

इस प्रकार अहिंसा, संयम और तप स्वरूप धर्म ही परम मगल है। जिस व्यक्ति के हृदय मे यह धर्म निवास करता है उसे देव, दानव, इन्द्र और चक्रवर्ती भी नतमस्तक होकर नमस्कार करते हैं।

अहिंसा से निर्मलता, सयम से स्थिरता एव तप से तन्मयता आने पर परमात्म समापत्ति सिद्ध होती है, अर्थात् आत्मा मे परमात्मा का निर्मल प्रतिबिम्ब पड़ता है।

हिंसा का परित्याग किये बिना चित्त निर्मल नही बनता, और सयम (इन्द्रियदमन-कषाय त्याग) के बिना स्थिरता नही आती तथा तप के बिना

(स्वाध्याय, ध्यान कायोत्सर्ग के बिना) तन्मयता नही आती और तन्मयता के बिना "समापत्ति" नही हो सकती । कहा है कि—

योगस्य हेतुर्मनस समाधि , पर निदान तपसश्च योग' ।
तपश्च मूल शिवशर्मवल्लया, मनः समाधि भज तत् कथचित् ।।

(अध्यात्म कल्पद्रुम)

मन की समाधि (निर्मलता) सयम (योग) का हेतु है और सयम (योग) तप का हेतु है, और तप मोक्ष का हेतु है ।

दुष्कृतगर्हा आदि के द्वारा समापत्ति—

(१) दुष्कृतगर्हा—हिंसा आदि पापो की गर्हा-निन्दा बहिरात्म-भाव को दूर करके चित्त को निर्मल करती है ।

(२) सुकृत-अनुमोदना—सुकृत की अनुमोदना अन्तरात्म-स्वरूप स्थिरता लाती है ।

(३) चतु शरणगमन—अरिहन्तादि चारो की शरण ग्रहण करने से परमात्मा के साथ तन्मयता होने पर "समापत्ति" सिद्ध होती है ।

तीन प्रकार की भक्ति के द्वारा समापत्ति—

(१) स्वामी-सेवक-भाव से परमात्मा की भक्ति करने से बहिरात्म-भाव नष्ट होता है और चित्त निर्मल बनता है ।

(२) अश-आशिक भाव के द्वारा (मेरे सम्यग्दर्शन आदि गुण प्रभु की पूर्ण प्रभुता का एक अश ही है) परमात्म-भक्ति से अन्तरात्मस्वरूप मे स्थिरता आती है ।

(३) पराभक्ति—स्वआत्मा को परमात्मा तुल्य मानकर उस रूप मे ध्यान करने से परमात्मा के साथ तन्मयता (एकता) होती है, उसे आत्मार्पण अथा समापत्ति कहा जाता है ।

"बहिरातम तजी अन्तर आतमा,
रूप थई थिर भाव सुज्ञानी ।
परमातम नु आतम भाववुं,
आतम अरपण दाव सुज्ञानी ।
आतम अरपण वस्तु विचारता,
भ्रम टले मति दोष सुज्ञानी ।
परम पदारथ सम्पद संपजे,
आनन्दघन रस पोष सुज्ञानी ।

(सुमतिजिन स्तवन)

बहिरात्म-भाव को त्यागकर अन्तरात्मस्वरूप में स्थिर होकर आत्मा को परमात्म-स्वरूप में भजना अर्थात् परमात्मा-भावना से आत्मा को वासित करना, जिससे आत्मा का परमात्मा में समर्पण होता है, और आत्मार्पण का स्वरूप निश्चय से सोचने पर परमात्मा के साथ भेद-सम्बन्ध का भ्रम मिट जाता है और आनन्दघन रस से परिपुष्ट परम आत्म-सम्पत्ति की सम्प्राप्ति होती है।

उपशम, विवेक एवं संवर के द्वारा समापत्ति—

(१) उपशम—कषायों का शमन करना, शान्त करना।

(२) विवेक—भेदज्ञान—आत्मा और कर्म की भिन्नता का विचार।

(३) संवर—कर्मों को रोकने का उपाय।

"उपशम" सम्यग्-दर्शन स्वरूप है, उससे चित्त निर्मल होता है।

"विवेक" सम्यग्ज्ञान स्वरूप है, सम्यग्ज्ञान से चित्त में स्थिरता आती है।

"संवर" सम्यग्चारित्र स्वरूप है, चारित्र आत्म-स्वभाव की रमणता स्वरूप है, जिससे चित्त में तन्मयता आती है, अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा का भेदभाव मिटकर एकता का अनुभव होता है, यही "समापत्ति" है।

तीन प्रकार की पूजाओं से भी समापत्ति—

(१) द्रव्य पूजा—अष्ट प्रकार की पूजा से चित्त निर्मल बनता है और प्रसन्नता होती है।

(२) प्रशस्तभाव पूजा - चैत्यवन्दन, स्तुति, स्तवना, प्रार्थना, गुण-गान आदि करने से चित्त में स्थिरता आती है।

(३) शुद्ध भाव पूजा—परमात्मा के गुणों का स्थिरतापूर्वक चिन्तन (ध्यान) करने से क्रमशः जब तन्मयता आती है तब "समापत्ति" सिद्ध होती है।

(१) पिण्डस्थ—छद्मस्थ अवस्था—प्रभु की बाल्यावस्था (जन्मोत्सव, स्नात्र आदि) राज्यावस्था और मुनि अवस्था का चिन्तन करने से चित्त निर्मल होता है।

(२) पदस्थ—केवली अवस्था—प्रभु की केवलज्ञान अवस्था का विचार करने से चित्त स्थिर होता है।

(३) रूपातीत अवस्था—प्रभु की सिद्ध अवस्था का ध्यान करने से जब उसमे तन्मयता आती है तब "समापत्ति" सिद्ध होती है।

श्रुतज्ञान, चिन्ताज्ञान और भावनाज्ञान के द्वारा समापत्ति—

(१) श्रुतज्ञान से चित्त की निर्मलता प्रकट होती है।

(२) चिन्ताज्ञान से चित्त की स्थिरता प्रकट होती है।

(३) भावनाज्ञान से चित्त की तन्मयता प्रकट होती है।

(१) श्रुतज्ञान—वाक्यार्थ मात्र के विषय युक्त, वितर्क आदि से रहित एव स्वच्छ पानी के तुल्य होता है।

(२) चिन्ताज्ञान—महा वाक्यार्थ, सर्व नयप्रमाणगामी, वितर्क आदि से युक्त दूध के स्वाद तुल्य होता है।

(३) भावनाज्ञान—तात्पर्यार्थ के विषय वाला, आत्महित कारक अमृत-रस के स्वाद तुल्य होता है।

अध्यात्म आदि पाँच प्रकार के योगो के द्वारा समापत्ति—

(१) अध्यात्म एव भावना योग के सतत अभ्यास से चित्त निर्मल बनता है।

(२) ध्यानयोग के सतत अभ्यास से चित स्थिर बनता है।

(३) समतायोग के अभ्यास से परमात्मा मे लीनता होने पर "समापत्ति" होती है और क्रमश वृत्तिसक्षय योग के द्वारा समस्त वृत्तियो का निरोध होने पर मोक्ष-सुख प्राप्त होता हैं।

चार अनुष्ठानो से समापत्ति—

(१) इच्छायोग चित्त को निर्मल करता है।

(२) शास्त्रयोग चित्त को स्थिर करता है।

(३) सामर्थ्ययोग से चित्त तन्मय होता है, उसे "समापत्ति" कहते हैं।

धारणा आदि से समापत्ति—

(१) धारणा के द्वारा चित्त की निर्मलता प्रकट होती है।

(२) ध्यान के द्वारा चित्त स्थिर होता है।

(३) समाधि के द्वारा चित्त तन्मय होने पर "समापत्ति" होती है अथवा समाधि "समापत्ति" स्वरूप है।

इच्छा, प्रवृत्ति आदि योग के द्वारा समापत्ति—

(१) इच्छा और प्रवृत्ति योग के द्वारा चित्त निर्मल होता है।

(२) स्थैर्य योग चित्त को स्थिर करता है।

(३) सिद्धियोग से चित्त मे तन्मयता आती है, जिससे "समापत्ति" प्रकट होती है।

पाँच प्रकार के आशय से समापत्ति—

(१) प्रणिधि एव प्रवृत्ति के द्वारा चित्त निर्मल होता है।

(२) विघ्नजय के द्वारा चित्त स्थिर होता है।

(३) सिद्धि और विनियोग के द्वारा चित्त तन्मय होने पर "समापत्ति" सिद्ध होती है।

स्थान आदि योगों के द्वारा समापत्ति—

(१) स्थान एवं वर्णयोग के द्वारा मन निर्मल होता है।

(२) अर्थ और आलम्बन योग से मन स्थिर होता है।

(३) अनालम्बन योग मे तन्मयता होने पर "समापत्ति" सिद्ध होती है।

दान आदि से समापत्ति—

(१) दान देने से चित्त निर्मल होता है।

(२) शील का पालन करने से चित्त स्थिर होता है।

(३) तप के द्वारा तन्मयता आने पर "समरसभाव" प्रकट होता है, वही "समापत्ति" कहलाता है।

मैत्री आदि चार भावनाओ से समापत्ति—

(१) मैत्री एव करुणा-भावना चित्त को निर्मल करती है।

(२) प्रमोद भावना चित्त को स्थिर करती है।

(३) मध्यस्थ भावना (समता) चित्त को तन्मय बनाती है। और चित्त तन्मय होने पर "समापत्ति" होती है।

पिण्डस्थ आदि ध्यान से समापत्ति—

(१) पिण्डस्थ ध्यान से चित्त निर्मल होता है।

(२) पदस्थ एवं रूपस्थ ध्यान से चित्त स्थिर होता है।

(३) रूपातीत ध्यान मे चित्त तन्मय होता है, वही "समापत्ति" है।

अमृत अनुष्ठान के द्वारा समापत्ति—

भव का भय, विस्मय, पुलक, प्रमोद, समय-विधान, भाव-वृद्धि और तद्गतचित्त अमृत अनुष्ठान के लक्षण है।

(१) भव का भय—भव के भय अर्थात् विषय-कषाय के भय से तथा विस्मय, पुलक एव प्रमोद के द्वारा चित्त निर्मल होता हैं।

(२) समय-विधान—शास्त्रोक्त समय के अनुसार क्रिया करने से तथा शुभ भाव की वृद्धि होने से चित्त स्थिर होता हैं।

(३) तद्गतचित्त—ध्येयाकार से चित्त की परिणमता से तन्मयता आती हैं। वही "समापत्ति" कहलाती हैं।

अष्ट प्रवचन माता के पालन से समापत्ति—

(१) पाँच समितियो से चित्त निर्मल होता हैं।

(२) वचनगुप्ति एव कायगुप्ति के द्वारा चित स्थिर होता हैं।

(३) मनोगुप्ति के द्वारा चित्त तन्मय होने पर "समापत्ति" सिद्ध होती हैं।

दस यतिधर्म के पालन से समापत्ति—

(१) क्षमा, मार्दव (मृदुता), आर्जव (सरलता), निर्लोभता, सत्य, शौच, अकिचनत्व (निर्ममत्व) के द्वारा मन निर्मल होता हैं।

(२) सयम एव ब्रह्मचर्य के द्वारा मन स्थिर होता हैं।

(३) तप—बाह्य-आभ्यन्तर तप के द्वारा क्रमशः तन्मयता होती हैं तब समापत्ति सिद्ध होती हैं।

पचाचार का पालन करने से समापत्ति—

(१) दर्शनाचार के पालन से चित्त निर्मल होता है—प्रसन्न होता हैं।

(२) ज्ञानाचार के पालन से चित्त स्थिर होता हैं।

(३) चारित्राचार, तपाचार एव वीर्याचार के पालन से चित्त तन्मय होने पर "समापत्ति" सिद्ध होती हैं।

पचपरमेष्ठियो की भक्ति से समापत्ति—

(१) मुनिराज की सेवा-भक्ति से चित्त निर्मल होता हैं।

(२) उपाध्याय एव आचार्य देव की सेवा-भक्ति से चित्त स्थिर होता है।

(३) अरिहन्त और सिद्ध भगवानो की भक्ति से चित्त तन्मय होता हैं, तब "समापत्ति" सिद्ध होती हैं।

देव, गुरु और धर्म से समापत्ति—

(१) अहिंसा आदि धर्म का पालन करने से चित्त निर्मल होता है।

(२) सद्गुरु की सेवा, भक्ति, आज्ञा-पालन से चित्त स्थिर होता है।

(३) अरिहन्त परमात्मा के ध्यान से उनमें चित्त तन्मय होने पर "समापत्ति" सिद्ध होती हैं।

अन्य प्रकार से—

(१) देव तत्त्व की भक्ति से चित्त निर्मल होता है।

(२) गुरु तत्त्व की भक्ति से चित्त स्थिर होता है।

(३) चारित्रधर्म की साधना से तन्मय होने पर "समापत्ति" होती हैं।

तीन अवंचक एव समापत्ति—

(१) योगावचक– सद्गुरु के दर्शन एव समागम से चित्त निर्मल होता हैं।

(२) क्रियावंचक—उनके उपदेशानुसार वन्दन आदि अनुष्ठान के आचरण से चित्त स्थिर होता हैं।

(३) फलावंचक—अवंचक फल-अचूक-सानुवन्ध फल की प्राप्ति से क्रमश आत्मस्वरूप के लक्ष्यवेध की शक्ति प्रकट होने पर परमात्म-स्वरूप में तन्मय होने पर "समापत्ति" सिद्ध होती हैं अर्थात् आत्मस्वरूप का लक्ष्य-वेध होता है।

तीन करणो से सम्यग् दर्शन रूप समापत्ति—

(१) चरमयथाप्रवृत्तिकरण—(वैराग्य परिणाम) मे चित्त निर्मल होता है।

(२) अपूर्वकरण (अपूर्वभाव अथवा वीर्योल्लास) से चित्त स्थिर होता है।

(३) अनिवृत्तिकरण—परमात्मस्वरूप मे तन्मयता रूपो सम्यग्दर्शन प्राप्त किये विना नही रहूगा, ऐसे निश्चल परिणाम से "समापत्ति" (सम्यग् दर्शन रूप) सिद्ध होती हैं।

छः आवश्यकों से समापत्ति—

(१) सामायिक एव प्रतिक्रमण—समस्त सावद्य योगो के परिहार से किये गये पापो के पश्चाताप से चित्त निर्मल होता हैं।

(२) चौविसत्थो एव वन्दन के द्वारा (अर्थात् देव वन्दन एव गुरु वन्दन के द्वारा) चित्त स्थिर होता है।

(३) कायोत्सर्ग एव प्रत्याख्यान के द्वारा चित्त तन्मय होने पर "समापत्ति" प्रकट होती हैं।

तीन प्रकार के जाप से समापत्ति—

(१) "नमो अथवा अर्हं" आदि पद के भाष्य जाप से चित्त निर्मल होता है।

(२) "नमो अथवा अर्हं" आदि पद के उपाशु जाप से चित्त स्थिर होता है।

(३) "नमो अथवा अर्हं" आदि पद के मानसिक जाप से चित्त तन्मय होने पर "समापत्ति" सिद्ध होती है।

नमस्कार महामन्त्र के द्वारा समापत्ति—

भयस्थान मे रहा हुआ मानव भय-मुक्त होने के लिये भयहीन स्थान का आश्रय लेता है। रोगग्रस्त व्यक्ति रोग-मुक्त होने योग्य चिकित्सा कराता है और विष से मूर्च्छित बना मनुष्य विषहरमन्त्र का प्रयोग करता हैं।

ससारी व्यक्ति को भी भव (कर्म) का भय सताता है, कर्म की व्याधि उसे पीडित करती है और मोह (राग-द्वेष, विषय, कषाय) रूपी विष ने उसे मूर्च्छित कर दिया है। भव के भय से मुक्त होने के लिये निर्भय अरिहन्त आदि का शरण ग्रहण करना चाहिये। कर्मरोग को नष्ट करने के लिए "तप" रूपी चिकित्सा करनी चाहिए और मोह-विष को उतारने के लिये स्वाध्याय (शास्त्राध्ययन) करना चाहिये।

नवकार महामन्त्र के जाप से भय, रोग और विष तीनो का प्रतिकार होता है क्योकि—

(१) नमस्कार महामन्त्र के पाँचो परमेष्ठी स्वय निर्भीक हैं और अन्य को निर्भय करने वाले हैं, अत उनकी शरण स्वीकार करने से निर्भयता आती है, भय का भाव दूर होने पर चित्त निर्मल होता है।

(२) परमेष्ठि-नमस्कार विनय वैयावच्च स्वरूप अभ्यन्तर तप है। उसके निरन्तर स्मरण से कर्मरोग का निवारण होता है। कर्मरोग क्षीण-प्राय होने से चित्त स्थिर होता है।

(३) नमस्कार महामन्त्र स्मरण, चिन्तन, मनन, निदिध्यासन

स्वाध्याय है। इनके द्वारा मोह-राग-द्वेष रूपी विष का वेग शान्त होने पर तन्मयता आती है।

इस प्रकार अरिहन्त आदि के ध्यान में तन्मय होने से "समापत्ति" सिद्ध होती है।

"नमो अरिहन्ताणं" पद के द्वारा समापत्ति की सिद्धि—

"नमो" पद के स्मरण से चित्त निर्मल होता है।

"अरिह" पद के स्मरण से चित्त स्थिर होता है।

"ताण" पद के स्मरण से चित्त तन्मय होने से "समापत्ति" होती है।

"नमो" पद के स्मरण से समापत्ति—

(१) "नमो" पद का उच्चारण वैखरी वाणी रूप होने से क्रियायोग है और इससे चित्त निर्मल होता है।

(२) "नमो" पद के अर्थ का चिन्तन मध्यमा वाणी रूप होने से भक्तियोग है और इससे चित्त स्थिर होता है।

(३) "नमो" पद का ध्यान (एकाग्र सवित्ति) पश्यन्ती वाणी रूप होने से ज्ञानयोग है। इससे चित्त की तन्मयता होने पर "समापत्ति" सिद्ध होती है। इसे "परावाणी" कहते हैं।

इस प्रकार बीस स्थानक तथा नौ पदो की भक्ति से अथवा अरिहन्त आदि किसी एक भी पद की भावपूर्वक भक्ति से चित्त निर्मल, स्थिर और तन्मय होने पर "समापत्ति" सिद्ध हो सकती है, तथा अहिंसा, सयम, क्षमा, तप आदि किसी भी एक-एक अनुष्ठान की आराधना से भी क्रमश. समापत्ति सिद्ध होती है। यहाँ तो सापेक्षता से मुख्य एव गौण भाव को लेकर मुख्य-मुख्य अनुष्ठानो के द्वारा उसकी सिद्धि की गई है। विशेष रहस्य तो गीतार्थ महापुरुषो से समझ लें।

"समापत्ति" ध्यान का प्रधान फल है। जब एकत्व ध्यान की स्पर्शना से ध्येय परमात्मा के शुद्ध स्वरूप का वास्तविक ध्यान आता है तब ध्याता अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप से परिचित होता है, आत्मा के आनन्द और सुख का अनुभव होता है। अत सुज्ञ साधक को बार-बार परमात्मा के ध्यान मे लीन होकर उक्त आनन्द एवं सुख की अनुभूति करने के लिए नित्य प्रयत्नशील होना चाहिये।

समस्त योग एव धर्म-अनुष्ठानो का लक्ष्य आत्मा को परमात्मा

बनाने का ही है और वह लक्ष्य परमात्म-स्वरूप में तन्मय होने से ही सिद्ध होता है।

इसके लिये "उपमिति भवप्रपंच" मे कहा है कि—

मूलोत्तरगुणा सर्वे, सर्वा चेयं बहिष्क्रिया।
मुनीना श्रावकाणा च, ध्यानयोगार्थमोरिता.॥

साधुओ तथा श्रावको के पालन करने योग्य समस्त प्रकार के मूल व्रत एव नियम तथा समस्त प्रकार की बाह्य क्रियाएँ ध्यान योग को सिद्ध करने के लिये बताई गई हैं।

□□

३. समापत्ति एवं गुणश्रेणी

गुणश्रेणी का अद्‌भुत स्वरूप समझने से "समापत्ति" का रहस्य विशेषतया स्पष्ट होता है।

गुणश्रेणी—अर्थात् उदय समय से लेकर प्रत्येक समय पर असख्य गुण वृद्धि से कर्मदलिक की रचना करना, अर्थात कर्म-क्षय करने के लिये उन कर्मदलिको को उचित रूप से जमाना। इस प्रकार की मुख्यत ग्यारह गुण-श्रेणियाँ होती है, जो निम्नलिखित हैं—

(१) प्रथम गुणश्रेणी—सम्यग्‌दर्शन प्राप्त करने के समय होती है। उसका काल अन्तर्मुहूर्त का है। उसके प्रारम्भ होने के समय जीव सबसे कम कर्म-पुद्‌गलो की रचना करता है; अर्थात् विपुल कर्म-राशि मे से उदयावलिका मे लाकर क्षय करने योग्य कर्म-स्कन्धो को उदय क्षण से लेकर असख्य गुने अधिक-अधिक जमाता है, उनमे प्रथम समय सबसे कम, दूसरे समय उससे असख्य गुने, उससे असंख्य गुने तीसरे समय इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के असख्य समय तक असख्य गुने अधिक-अधिक कर्म-पुद्‌गल यावत् श्रेणी के अन्तिम समय तक रचता है।

(२) देशविरति प्राप्त करने के समय जीव दूसरी गुणश्रेणी की रचना करता है, जिसका काल भी अन्तर्मुहूर्त होते हुए भी प्रथम की अपेक्षा छोटा अन्तर्मुहूर्त होता है, प्रथम की अपेक्षा कर्म दलिक असख्य गुने अधिक होते हैं। इस प्रकार ही आगे सर्वविरति आदि समस्त गुणश्रेणियो मे समझना चाहिये—अर्थात् अन्तर्मुहूर्त का काल अल्प और कर्म दलिको की सख्या अधिक होती है, अर्थात् आगे-आगे की भूमिकाओं मे अध्यात्म-परिणाम की विशुद्धि अधिकाधिक होती है, जिससे अल्पकाल मे भी पर्याप्त कर्म-पुजो का क्षय होता है।

उत्तरोत्तर अध्यवसाय की विशुद्धि बताने के लिये ही कहा है कि "यह सम्यग्‌दर्शन, देशविरति, सर्वविरति गुणधारक भी क्रमश. असख्य गुने कर्म-निर्जरा करने वाले होते हैं।"

ज्यो-ज्यो कर्म निर्जरा अधिक होती हैं, त्यो-त्यो आत्मा की शुद्धता मे वृद्धि होती है और उक्तवर्धित आत्म-शुद्धता उत्तर अवस्था मे प्राप्त होने वाली आत्म शुद्धता का कारण बनती है। इस प्रकार प्रत्येक गुणश्रेणी मे अपूर्व आत्म-सामर्थ्य और अध्यवसाय की शुद्धि अधिकाधिक होती है, उसमे से प्रथम गुणश्रेणी करने के समय जो आत्म-सामर्थ्य प्रकट होता है, उसके मूल कारण का विचार करने पर समापत्ति का रहस्य विशेष स्पष्ट ज्ञात होता है।

आगमो एव कर्म ग्रन्थो मे सम्यक्त्व प्राप्त होने से पूर्व तीन करणो का रहस्यमय वर्णन आता है। उक्त करण अर्थात् "आत्मा के निर्मल, स्थिर परिणाम" जिनके द्वारा पर्याप्त कर्म स्थिति का नाश होता है।

(१) यथाप्रवृत्तिकरण, (२) अपूर्वकरण और (३) अनिवृत्तिकरण। प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण तो अनेक बार होता है। जब होता है तब वैराग्य के भाव अवश्य होते हैं। उसके द्वारा आयु के अतिरिक्त सात कर्मों की स्थिति अन्तर्कोटाकोटि सागरोपम से भी तनिक न्यून हो जाती है। भव्य एव अभव्य जीव भी ऐसी भूमिका मे अनेक बार आकर पुन नीचे गिर जाते हैं, परन्तु चरमपुद्गल परावर्त मे आने पर कोई भव्य जीव चरम यथा-प्रवृत्तिकरण की भूमिका मे स्थिर होकर अपूर्वकरण का सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करता है, जिसका विस्तृत वर्णन योग की चार (मित्रा, तारा, बला, दीप्रा) दृष्टियो के द्वारा "योगदृष्टि समुच्चय" ग्रन्थ मे हो चुका है। उक्त ग्रन्थ के अवगाहन से चरम यथाप्रवृत्तिकरण मे होने वाली विशिष्ट साधनाओ का तनिक ध्यान आयेगा।

अपूर्व जिनभक्ति, गुरुसेवा, श्रुतभक्ति, भववैराग्य, तत्वजिज्ञासा, तत्वश्रवण आदि योग के बीजो तथा यम, नियम, आसन और भाव-प्राणा-याम आदि योग के अगो का क्रमश विकास होने पर चौथी दीप्रा दृष्टि मे गुरु-भक्ति के प्रभाव से परमात्म समापत्ति सिद्ध होती है।

चित्त की निर्मलता, स्थिरता और तन्मयता होने से ही यह समा-पत्ति हो सकती है। ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकता ही समापत्ति है। परमात्मा के ध्यान मे तन्मय बनो आत्मा जब स्वय को भी परमात्म-स्वरूप मे मानकर ध्यान करती है, अर्थात् संग्रहनय की दृष्टि से समस्त सत्ता से सिद्ध के समान होने से ऐसी सिद्धता मुझमें भी है यह जानकर आत्मस्वरूप मे एकाकार हो जाती है। इस प्रकार बार-बार के सतत अभ्यास से उसमे अपूर्व आत्म-सामर्थ्य प्रकट होता है।

अध्यवसाय (आत्मपरिणाम) की अपूर्व निर्मलता, स्थिरता होने से आत्मस्वरूप मे तन्मय होने पर अपूर्व वीर्योल्लास जागृत होता है, तब "अपूर्वकरण रूप समापत्ति"[1] सिद्ध होती है।

जिस अपूर्वकरण के विशुद्ध परिणाम से राग-द्वेष की निविड़, घन, कर्कश और गुप्त ग्रन्थियो का भी भेदन हो जाता है, वह अपूर्वकरण भी ध्यान विशेष (समापत्ति विशेष) है।

अपूर्वकरण के पश्चात् भी प्रबल ध्यान आदि के कारण पूर्व की अपेक्षा अधिक चित्त निर्मलता, स्थिरता एव तन्मयता सिद्ध होती है तब "अनिवृत्तिकरण" की शक्ति प्रकट होती है। उक्त अनिवृत्तिकरण (रूप समापत्ति) के द्वारा प्रथम गुणश्रेणी (की रचना) करता है और सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर भूमिका-योग्य धर्म अनुष्ठान के निरन्तर सेवन से जब प्रबल ध्यान-शक्ति प्रकट होती है, तब उस प्रकार की समापत्ति-समाधि प्राप्त होती है कि जिससे देशविरति आदि गुणश्रेणी सिद्ध हो सकती है। प्रत्येक गुणश्रेणी का समय अन्तमुहूर्त ही है और स्थिर ध्यान का काल भी अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है। फिर विषयान्तर का आलम्बन अवश्य लेना पडता है, जिससे फलित होता है कि ध्यान की निर्मलता, स्थिरता एवं तन्मयता के द्वारा गुणश्रेणी की रचना होती है। ज्यो-ज्यो चित्त की निर्मलता, स्थिरता और तन्मयता की वृद्धि होती है, त्यों-त्यो वह आत्मा उत्तरोत्तर गुणश्रेणी रचना के द्वारा असख्यगुण, कर्मनिर्जरा एवं उत्तरोत्तर विशेष विशुद्धि प्रकट करती है।

इस प्रकार ध्यान की निर्मलता, स्थिरता और तन्मयता से समापत्ति (सामायिक अथवा समाधि) सिद्ध होती है और उससे गुणश्रेणी की रचना होती है और उससे क्रमश असख्य गुनी कर्म-निर्जरा होने पर असख्यगुनी आत्म-विशुद्धि प्राप्त होती है और अयोगी अवस्था के अन्त में मुक्ति प्राप्त होती है।

---

१ एतानि श्रद्धादिनि अपूर्वकरण महासमाधि बीजानि।
तत्परिपाकातिशयतस्तत्सिद्धे ॥
ये श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा एव अनुप्रेक्षा-अपूर्वकरणरूप महासमाधि के बीज हैं, क्योकि श्रद्धा आदि की परिपक्वता से ही उसकी सिद्धि होती है।
(ललितविस्तरा चैत्यस्तव)

अथवा तो परमात्म-प्रभु का ध्यान ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप है, अर्थात् ध्यान की निर्मलता रूप सम्यग्दर्शन ध्यान की स्थिरता रूप सम्यग्ज्ञान और तन्मयता रूप चारित्र की ज्यो-ज्यो वृद्धि होती है त्यो-त्यो अधिकाधिक कर्मनिर्जरा होती है।

जब ध्याता पूर्णतः ध्येय रूप मे हो जाता है तब समस्त कर्मों का क्षय होने पर मुक्ति प्राप्त होती है।

भावधर्म और समापत्ति—

अनन्त उपकारी श्री तीर्थंकर परमात्मा ने (दान, शील, तप और भाव के भेद से) धर्म के चार भेद बताये हैं। उनमे भाव-धर्म प्रधान है। इसके बिना दान आदि तीन धर्म मोक्ष साधक नही बनते।

भाव मन मे उत्पन्न होता है और मन अत्यन्त चचल स्वभावी होने से आलम्बन के बिना स्थिर नही रहता। इस कारण ही जिनेश्वर भगवान ने सालम्बन और निरालम्बन रूप ध्यान के दो भेद बताये हैं।

निरालम्बन ध्यान आलम्बन ध्यान के बिना सिद्ध नही होता, अत. सालम्बन ध्यान को सिद्ध करने के लिये असख्य आलम्बन (योग) बताये हैं, जिनमे अरिहन्त आदि नौ पद मुख्य आलम्बन हैं।

अरिहन्त आदि का द्रव्य-गुण-पर्याय के द्वारा ध्यान करने से ध्याता जब अपनी आत्मा को निर्मल कर के क्रमश. अरिहन्त आदि के स्वरूप मे स्थिर होकर तन्मय हो जाता है, तब ध्याता, ध्येय और ध्यान का भेद नही रहता, परन्तु एक ही ध्येयाकार मे तन्मय बनी आत्मा का ही (अनुभव) शुद्ध उपयोग रहता है, तब आत्मा का शुद्ध उपयोग स्वरूप भावधर्म उत्पन्न होता है। निश्चय दृष्टि से वह[1] शुद्ध उपयोग ही भावधर्म है। आगम से भाव निक्षेप भी शुद्ध उपयोग वाले ज्ञाता को[2] भाव-धर्म के रूप मे स्वीकार करता है, तथा योगशास्त्र मे निर्दिष्ट समापत्ति ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकता रूप होने से शुद्ध धर्म को उत्पन्न करती है। अत (व्यवहार की अपेक्षा से) वह समापत्ति भी भावधर्म है। (यहाँ कारण मे कार्य का उपचार हुआ है।)

---

१ वत्थु सहाओ धम्मो।

२ शिरोदक समो भाव आत्मन्येन व्यवस्थित। (योगबिन्दु ३४६)

वृत्ति-भाव शुद्ध परिणामरूप आत्मन्येव-जीव एव-सम्यग्दृष्ट्यादौ व्यवस्थित।

श्री "सिरिवालकहा" मे निश्चयदृष्टि से नौ पदो का विस्तार पूवक वर्णन किया गया है। उसके चिन्तन, मनन से "समापत्ति" का स्वरूप स्पष्ट समझा जा सकता है।

एयाराहणमूल च पाणिणो केवलो सुहो भावो।
सो होइ धुव जीवाण, निम्मलप्पाण नन्नेसिं ॥

इन नौ पदो की आराधना का मूल केवल प्राणियों का शुभ भाव है और उक्त शुभ भाव निर्मल आत्माओ मे ही होता है, अन्य जीवो मे नही हो सकता। जो संकल्प विकल्प रहित निर्मल आत्मा हैं, वे ही नौ पद हैं और नौ पदो मे निर्मल आत्मा है।

रूपस्थ, पदस्थ एव पिण्डस्थ रूप से अरिहन्त का ध्यान करता ध्याता स्वय को भी प्रत्यक्ष रूप से अरिहन्त के रूप मे देखता है। उसी प्रकार से सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप पद का ध्यान करने वाला ध्याता जब ध्येय स्वरूप मे तन्मय हो जाता है तब वह अपनी आत्मा को भी सिद्ध, आचार्य आदि के रूप मे ही देखता है।

आगम से भाव निक्षेप उस आत्मा को ही अरिहन्त आदि मय कहते हैं। अत वह निर्मल आत्मा ही नौ पद मय है और नौ पद भी भाव रूप मे निर्मल आत्मा मे ही हैं, यह स्पष्ट समझा जा सकता है।

इस प्रकार आत्मा को ही नौ पदमय देखने से उस क्षण मे पर्याप्त कर्मों का क्षय हो जाता है, जो करोड़ो जन्मो के तीव्र तप से भी सम्भव नही है।

इस प्रकार आत्मा को नौ पदमय जानकर आत्मा में ही सदा लीन (मग्न) होना चाहिये। स्फटिक रत्न तुल्य निर्मल आत्म-स्वभाव ही "भाव-धर्म" है, इस प्रकार श्री जिनेश्वर भगवन्त ने कहा है।

निश्चय से राग द्वेष रहित शुद्ध आत्म-स्वभाव को ही धर्म कहा जाता है।

जे जे अशे रे, निरुपाधिकपणुं, ते ते जाणो रे धर्म।
सम्यग्दृष्टि रे गुणठाणाथकी जाव लहे शिव शर्म ॥

निश्चय से जितने अश मे उपाधिरहितता प्रकट हुई हो अर्थात् आत्म-विशुद्धि प्रकट हुई हो उतने अशो में शुद्ध धर्म प्राप्त हुआ कहा जाता है और वह धर्म सम्यग्दृष्टि (चतुर्थ) गुणस्थानक से लगाकर मोक्ष सुख प्राप्त होने तक उत्तरोत्तर विशुद्ध होता जाता है, अर्थात् मोक्ष मे पूर्ण शुद्ध आत्म स्वभाव प्रकट होता है।

व्यवहार की अपेक्षा से मार्गानुसारी—अपुनर्बन्धक अवस्था मे योग-धर्म का बीजरूप उचित (शास्त्रोक्त) अनुष्ठान भी निश्चय धर्म को प्रकट करने वाला होने से व्यवहार से धर्म कहलाता है ।

इस प्रकार विशिष्ट ध्यान रूप अथवा ध्यान की फलस्वरूप "समापत्ति" शुद्ध आत्मधर्म का अनन्तर प्रधान कारण होने से "भावधर्म" ही है और वह भाव ही समस्त अनुष्ठानो का ध्येय है, फल है ।

भावसेवा और समापत्ति—

परमात्म समापत्ति अरिहन्त परमात्मा की "भावसेवा" है, पराभक्ति (परम उत्कृष्ट भक्ति) है और शुद्ध भावपूजा[1] है, क्योकि इन तीनो के लक्षण समापत्ति मे घटित हाते हैं । परमात्मा की निर्मल, स्थिर चित्त से सेवा, भक्ति अथवा पूजा करके उनके स्वरूप मे तन्मय हो जाना ही "भावसेवा" है, पराभक्ति अथवा शुद्ध भाव-पूजा का लक्षण है और ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकतारूप परमात्म समापत्ति भी चित्त की निर्मलता, स्थिरता एव तन्मयता के द्वारा सिद्ध होती होने से परमात्मा की भावसेवा, पराभक्ति अथवा शुद्ध भाव पूजा ही है, यह जानकर परमात्मा की भावपूजा मे—भक्तिसेवा मे तत्पर होकर आत्मस्वरूप का अनुभव करना चाहिये ।

(भावसेवा दो पकार की है—(१) अपवाद भावसेवा और (२) उत्सर्ग भावसेवा । उसका और शुद्ध भावपूजा का विस्तृत स्वरूप देवचन्द्र जी कृत आठवें और बारहवे प्रभु के स्तवन के विवेचन से ज्ञात कर लें ।)

सात नयो से समापत्ति अथवा भावसेवा का चिन्तन—

परमात्मा की भावसेवा के दो भेद हैं—

(१) अपवाद भावसेवा (निमित्तरूप भाव सेवा) और

(२) उत्सर्ग भावसेवा (कार्य-उपादान रूप भाव सेवा ।

---

१ सा (भक्ति) त्वस्मिन् (परमात्मनि) परमप्रेमरूपा । अमृतस्वरूपा च यल्लब्ध्वा पुमान्-सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति ।

वह भक्ति-परमात्मा मे परम प्रेम-प्रीति स्वरूप है, अमृत-मोक्षस्वरूप है, क्योकि जिस भक्ति को पाकर भक्त सिद्ध बनता है, अमृतमय अथवा अमृत बनता है, परम तृप्त होता है । (नारद—भक्तिसूत्र)

परमात्म समापत्ति निमित्त स्वरूप होने से अपवाद भाव सेवा रूप है। उसके योग से आत्मा की उपादान शक्ति—सम्यग् दर्शन आदि प्रकट होती है। वह उत्सर्ग भाव सेवा है।

सात नयो की अपेक्षा से बृहत्कल्पभाष्य के आधार से श्रीमद् देवचन्द्र जी कृत श्री चन्द्रप्रभ जिन स्तवन में भाव सेवा के स्वरूप निम्न प्रकार से हैं—

(१) नैगमनय से—अपवाद भावसेवा अथवा समापत्ति—जिनगुण का सकल्प-चिन्तन।

(२) संग्रहनय से—अपवाद भावसेवा अथवा समापत्ति-भेद-अभेद के विकल्प से परमात्मा के साथ आत्मसत्ता की तुल्यता का विचार।

(३) व्यवहारनय से—अपवाद भावसेवा अथवा समापत्ति—सन्मान पूर्वक-सम्यग्ज्ञानयुक्त च चारित्र के द्वारा जिनगुणो मे रमणता।

(४) ऋजुसूत्रनय से—अपवाद भावसेवा अथवा समापत्ति—प्रभुगुण के आलम्बन से पदस्थ आदि धर्मध्यान।

(५) शब्दनय से—अपवाद भावसेवा अथवा समापत्ति—शुक्लध्यान मे चढना, (प्रथम नीव) और आत्मस्वरूप मे तन्मय होकर परमात्म-चिन्तन।

(६) समभिरूढनय से—अपवाद भावसेवा अथवा समापत्ति—दसवें सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानक से होता शुद्ध ध्यान।

(७) एवभूतनय से—अपवाद भावसेवा अथवा समापत्ति—बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानक से प्रकट होते शुक्लध्यान का द्वितीय भेद।

इस प्रकार नयभेद से—भावसेवा के स्वरूप का विचार करने पर समापत्ति का स्वरूप भी सात नयो के विभाग से स्पष्ट समझा जा सकता है। उससे प्रकट होती आत्म-शुद्धता का तारतम्य उत्सर्ग भाव सेवा के स्वरूप से ज्ञात हो सकेगा।

सामान्य से दीप्राहृष्टियुक्त अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि, देशविरति, प्रमत्तयति और अप्रमत्तयति को क्रमश नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र नय की समापत्ति (धर्मध्यानस्वरूप) सम्भव हो सकती है। शेष समापत्ति शुक्ल ध्यान मे ही होती है।

□□

४. समापत्ति और कायोत्सर्ग

जैनदर्शन में "कायोत्सर्ग" को आवश्यक नित्य कर्तव्य के रूप मे विशेष महत्व दिया गया है। इसका कारण क्या होगा ? यदि इस पर शास्त्र-सापेक्ष चिन्तन अनुभवपूर्वक किया जाये तो उसका गम्भीर रहस्य अवश्य समझने को मिलेगा। यद्यपि इसका सम्पूर्ण रहस्य तो दिव्य, ज्ञानी पुरुष ही जान सकते हैं और अनुभव कर सकते हैं।

"षड् आवश्यक" मे कायोत्सर्ग पाँचवाँ आवश्यक है।

साधु, साध्वी, श्रावक एव श्राविका रूप चतुर्विध सघ समस्त को नित्य, नियमित अवश्य करने योग्य होने से इन्हे "आवश्यक" कहा जाता है।

चतुर्विध सघ के सस्थापक समस्त तीर्थंकर भगवान भी दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जब तक केवलज्ञान नही होता, तब तक प्रायः कायोत्सर्ग अवस्था मे रहकर निरन्तर ध्यान करते है और मुक्ति भी प्राय कायोत्सर्ग अवस्था में ही प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार से उनके शिष्य—गणधर भगवान, पूर्वधर एव अन्य लब्धिधारी मुनि भी कठिन कर्म-काष्ठ को भस्म करने के लिये सदा "कायोत्सर्ग" का आलम्बन ही लेते हैं। इससे भी समझा जा सकता है कि जैनदर्शन मे "कायोत्सर्ग" का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

"कायोत्सर्ग" अभ्यन्तर (आन्तरिक) तप है। इसमे भी इसका स्थान ध्यान के पश्चात अन्तिम है। अत प्रायश्चित्त, विनय, वैयावच्च, स्वाध्याय एव ध्यान की अपेक्षा भी "कायोत्सर्ग" का सामर्थ्य विशेष है। कायोत्सर्ग मे प्रायश्चित्त आदि पाँचो की सम्मिलित शक्ति का सचय है। इस कारण कायोत्सर्ग के द्वारा सर्वाधिक कर्मों की निर्जरा होती है और अत्यन्त आत्म-विशुद्धि प्रकट होती है।

कायोत्सर्ग आत्मा और परमात्मा के मध्य का अन्तर मिटाकर परमात्मा के साथ तन्मय करता है, अत वह समापत्ति स्वरूप है।

ध्यान का फल समाधि है। कायोत्सर्ग भी ध्यान फल होने से

समाधि स्वरूप है। समापत्ति और समाधि परस्पर कार्य-कारण-भाव-स्वरूप होने से दोनो की क्वचित् एकता प्रसिद्ध है।

"कायोत्सर्ग" समाधि (समापत्ति) स्वरूप है। इसका रहस्य समझने के लिये निम्नलिखित शास्त्रीय पाठ अत्यन्त उपयोगी होगे—

चैत्यवन्दन सूत्र की व्याख्या रूप—"ललित विस्तरा" ग्रन्थ मे सूरि-पुरन्दर श्रीमद् हरिभद्रसूरीश्वर जी ने "कायोत्सर्ग" का महान् रहस्य इस प्रकार बताया है—

"अन्नत्थ सूत्र"—सहित अरिहन्त चेइयाणं सूत्र—चैत्यस्तव अथवा कायोत्सर्ग दण्डक कहलाता है, जिसमे ४३ पद, ८ सम्पदा एवं २२९ वर्ण होते हैं।

इस सूत्र का उच्चारण एव कायोत्सर्ग "जिनमुद्रा"[1] के द्वारा किया जाता है।

इस सूत्र मे कायोत्सर्ग का स्वीकार, निमित्त (प्रयोजन), हेतु (साधन), आगार, (काउस्सग में रखी हुई छूट), अवधि (मर्यादा) और उसके स्वरूप का वर्णन आठ सम्पदाओ द्वारा हुआ है। यह जानने से कायोत्सर्ग का महत्त्व समझ मे आता है।

"अरिहन्त चेइयाण—करेमि काउस्सग्ग" पद के द्वारा काया के उत्सर्ग अर्थात् त्याग करने की प्रतिज्ञा ली जाती है। प्रस्तुत सूत्र का अर्थ—

अरिहन्त चैत्यो अर्थात् जिन-प्रतिमाओ को वन्दन करने के लिए मैं (लाभार्थ) कायोत्सर्ग करता हूँ अर्थात् उच्छ्वास आदि आगारो के अतिरिक्त काया को एक स्थान पर स्थिर रखकर, वाणी को सर्वथा मौन रखकर, मन को शुभ ध्यान मे लगाकर शेष प्रवृत्तियो का सर्वथा त्याग करता हूँ, अर्थात् मैं निश्चल ध्यान रूप समाधि मे प्रवेश करता हूँ।

निमित्त—ऐसा निश्चल ध्यान अथवा समाधिस्वरूप कायोत्सर्ग करने के कारण स्पष्ट किये जाते हैं—

पापक्षपण, वन्दन, पूजन, सत्कार, बोधि (सम्यक्त्व) लाभ, निरुप-

---

१ जिस ध्यान आदि क्रिया मे जिनेश्वर के समान मुद्रा रखी जाये वह, अथवा जिन राग-द्वेष आदि विघ्नो की विजेता मुद्रा अथवा जिसमे खडे रहते समय दोनो पाँवो के अग्रभाग परस्पर चार अगुल दूर और पिछला भाग उससे तनिक दूर रखा जाये वह "जिनमुद्रा" कहलाती है।

द्रव-मोक्ष प्राप्ति के लिए और सम्यग्दृष्टि देव के स्मरणार्थ कायोत्सर्ग किया जाता है। प्रस्तुत सूत्र मे वन्दन आदि छ कारणो के लिए कायोत्सर्ग का विधान है।

अरिहन्त परमात्मा की प्रतिमा चित्त की समाधि उत्पन्न करती है, अत उनका वन्दन, पूजन (सुगन्धित पुष्पो आदि के द्वारा) सत्कार (श्रेष्ठ वस्त्र आभूषणो के द्वारा पूजन), सम्मान (स्तुति के द्वारा) करने से जो कर्मक्षय के रूप मे महान लाभ प्राप्त होता है, वह लाभ इस कायोत्सर्ग के द्वारा भी होता है, तथा बोधिलाभ—जिनप्रणीतधर्म की प्राप्ति होती है। उस बोधिलाभ के द्वारा निरुपद्रव (जन्म, जरा, मृत्यु आदि उपद्रवो से रहित) अवस्था रूप मोक्ष प्राप्त होता है।

उपर्युक्त हेतुओ से कायोत्सर्ग किया जाता है।

इस प्रकार आठ प्रयोजन सिद्ध करने मे समर्थ होने के कारण कायोत्सर्ग का अपूर्व सामर्थ्य सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। कायोत्सर्ग मे प्राप्त होने वाली मन, वचन और काया की स्थिरता (निश्चलता) के द्वारा पापो का क्षय होता है।

जिन वन्दन, पूजन, सत्कार और सम्मान के द्वारा जो फल प्राप्त हो सकता है वैसा फल कायोत्सर्ग से प्राप्त होता है और जिनप्रणीतधर्म (सम्यक्त्व आदि) की प्राप्ति होती है। तथा क्रमश मोक्षफल (अनन्त, अक्षय, अव्याबाध सुख) भी प्रकट हो सकता है।

कायोत्सर्ग का इतना अपूर्व सामर्थ्य प्रकट होने का कारण—

हेतु साधन[1]—उपर्युक्त सम्यक्त्व एव मोक्षरूप कार्य को सिद्ध करने मे समर्थ कायोत्सर्ग के प्रकृष्ट साधन, वृद्धि होती हुई श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा और अनुप्रेक्षा हैं। इनके द्वारा कायोत्सर्ग करने से इष्टफल सिद्ध होता है, परन्तु श्रद्धा के बिना किया गया कायोत्सर्ग सम्यक्त्व आदि फल उत्पन्न नही कर सकता।

---

१ "चैत्यवन्दन भाष्य" मे कायोत्सर्ग करने के बारह निम्न कारण बताये गये हैं—
"चउ "तस्स उत्तरीकरग" पमुह "सद्धाइयाय" पण हेउ ॥
"वैयावच्च गरताइ" तिन्नि इउ हेउ बारसग ॥ ५४ ॥"
"तस्सउत्तरीकरण" आदि चार, "श्रद्धा" आदि पाँच और वैयावृत्यकरण आदि आदि तीन—इस प्रकार बारह कारण (साधन) है।

(१) श्रद्धा—निज आत्माभिलाषा रुचिरूप है।

मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न चित्त की प्रसन्नता ही श्रद्धा है (अर्थात् चित्त की प्रसन्नता रूप आत्मिक परिणाम)।

श्रद्धा का कार्य—इस प्रकार की श्रद्धा जीव आदि तत्वों का अनुकरण करती है अतः वह सत्य है यह प्रतीति कराती है।

संशय, भ्रम, विपर्यय अथवा अनध्यवसाय (समारोप) को दूर करती है।

शुभ-अशुभ कर्म, उनका फल, आत्मा के साथ कर्मों के सम्बन्ध आदि की वास्तविकता का ठोस विश्वास उत्पन्न करती है।

उदक प्रसादक मणि की तरह चित्त की मलिनता दूर करती है।

(२) मेधा (बुद्धि)—गहन ग्रन्थो का रहस्य ग्रहण करने में समर्थ आत्म-परिणाम को मेधा कहते है। यह ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न आत्मधर्म (गुण) है।

मेधा का कार्य—सत्शास्त्र के श्रवण आदि की प्रवृत्ति कराने वाली तथा मिथ्यात्व-पोषक शास्त्र के श्रवण से निवृत्ति कराने वाली मेधा गुरु की विनय आदि से प्राप्त होती है। मेधा प्राप्त होने से सद्ग्रन्थो (मोक्ष-मार्ग प्रकाशक) के प्रति परम उपादेय भाव (यही हितकारी है यह भाव) उत्पन्न होता है।

(३) धृति—(मन प्रणिधान) चित्त की एकाग्रता विशिष्ट प्रीति तन्मयतारूप है। यह धृति चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से जनित है, दीनता, उत्सुकता रहित, धीर, गम्भीर आशय स्वरूप है। निर्धन व्यक्ति को जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति होने से दुःख दूर होने के कारण निर्भयता-निराकुलता आती है, उसी प्रकार से अपूर्व चिन्तामणि तुल्य जिनधर्म प्राप्त होने पर संसार का भय दूर होने से धृति प्रकट होती है।

(४) धारणा—प्रस्तुत ध्येय पदार्थ का अविस्मरण—उपयोग की स्थिरता ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम जनित चित्त का परिणाम है। यह अविच्युति (सतत उपयोग), वासना (सस्कार) और स्मृति (स्मरण) रूप भेद वाली है।

धारणा के द्वारा प्रस्तुत ध्येय-विषय का क्रम पूर्वक सतत स्मरण रहता है, जिससे स्थानादि योग मे प्रवृत्त साधक को योग, ध्यान आदि गुणो

की श्रेणी प्राप्त होती है और उपयोगपूर्वक पिरोये जाते मोतियो की व्यवस्थित एव सुन्दर माला तैयार होती हैं।

(५) अनुप्रेक्षा—तत्वार्थ का चिन्तन मनन-परिशीलन करना, आत्म-तत्व आदि का पुनः-पुनः विचार करना उसे अनुप्रेक्षा कहते हैं। यह अनुप्रेक्षा भी ज्ञानावरणीयकर्म का क्षयोपशमजनित आत्म-परिणाम हैं।

अनुप्रेक्षा का कार्य—

यह अभ्यास विशेष से आत्म-तत्त्व की अनुभूति कराती है, परम सवेग उत्पन्न करती है, सवेग मोक्ष की तीव्र अभिलाषा को सुदृढ करती है, उत्तरोत्तर विशेष श्रद्धा उत्पन्न करती है और क्रमश केवलज्ञान के सम्मुख ले जाती है।

जिस प्रकार रत्नशोधक अग्नि रत्न के चारो ओर फैलकर उसकी मलिनता को जलाकर रत्न को शुद्ध करती है, उसी प्रकार से अनुप्रेक्षा रूपी अग्नि आत्मा मे फैल कर कर्म-मल को जला कर निर्मल केवलज्ञान उत्पन्न करती है, अर्थात् अनुप्रेक्षा एक प्रचण्ड ध्यान शक्ति है।

इस प्रकार श्रद्धा आदि पांचो का स्वरूप बताकर उसके फल का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार महोदय श्रद्धा आदि मे निहित शक्तियो का परिचय देते हैं।

महासमाधि के बीज—श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा और अनुप्रेक्षा-पूर्वक करणरूप महासमाधि के बीज (उपादान कारण) हैं, क्योकि श्रद्धा आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि होने पर जब उनकी परिपक्वता अतिशय हो जाती है तब अपूर्वकरणरूप समाधि प्रकट होती है।

परिपाचना (श्रद्धा आदि पाँचो की परिपक्वता) कुतर्कजनित मिथ्या विकल्पो का त्याग करके सत्शास्त्रो को श्रवण, पठन, अर्थ-प्रतीति और शास्त्रोक्त अनुष्ठान करने की तीव्र इच्छा तथा बार-बार तदनुसार प्रवृत्ति करने से श्रद्धा आदि पाँचो की परिपक्वता होती है।

परिपाचना का अतिशय—

जब शास्त्रोक्त सदनुष्ठान की प्रवृत्ति मे स्थिरता आने पर उसकी सिद्धि होती है तब प्रधान परोपकार मे हेतुभूत श्रद्धा आदि की "अतिशय" परिपक्वता सिद्ध होती है। अर्थात् उक्त परिपक्वता की अत्यन्त वृद्धि होती है और अपूर्वकरणरूप महासमाधि को उत्पन्न करती है।

इस प्रकार श्रद्धा आदि पाँचो के द्वारा समाधि अथवा समापत्ति सिद्ध होती हैं ।

(१) श्रद्धा एवं मेधा से चित्त की निर्मलता प्रकट होती है ।

(२) धृति एव धारणा से चित्त की स्थिरता प्रकट होती है ।

(३) अनुप्रेक्षा की अतिशय-परिपक्वता के द्वारा तन्मयता प्रकट होती है तब "समापत्ति" सिद्ध होती है ।

ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकतारूप "समापत्ति" का पुन पुन-अभ्यास होने से अपूर्वकरणरूप (सपापत्ति) महासमाधि प्रकट होती है ।

कायोत्सर्ग एवं समाधि की एकता—

इससे समझा जा सकता है कि श्रद्धा आदि पाँच जो कायोत्सर्ग के प्रकृप्ट साधनो के रूप में जाने जाते है वे श्रद्धा आदि समुच्चय ध्यान और समाधि के भी प्रधान साधन हैं, अत कायोत्सर्ग समाधि स्वरूप ही है ।

जिस वस्तु के बीज (कारण) समान हो, उनके फल भी समान ही होते हैं ।

सदनुष्ठानो का फल समाधि (समापत्ति)—

यहाँ कायोत्सर्ग अथवा समाधि के प्रकृष्ट साधनो (हेतु) के रूप मे जिस प्रकार श्रद्धा आदि का निर्देश दिया जाता है, उसी प्रकार से श्रद्धा आदि के साधनो के रूप मे मिथ्याविकल्प के त्याग, शास्त्रश्रवण, प्रतीति, इच्छा योग और प्रवृत्ति योग आदि का भी निर्देश हुआ है । इसका रहस्य सरलता से समझ मे आ सकता है कि शास्त्र-श्रवण, गुरु-विनय, जिन-दर्शन, पूजन, यम-नियम के पालन से श्रद्धा आदि की परिपक्वता की वृद्धि होती है और सदनुष्ठानो को निरन्तर करने से उनमे स्थिरता आने पर और उनमे सिद्धि प्राप्त होने पर श्रद्धा आदि की वृद्धि से अतिशय वेग आता है, अर्थात् श्रद्धा, मेधा, धृति एवं धारणा की अतिशय प्रबलता होने से अनुप्रेक्षारूप ध्यान अतिशय प्रबल होता है और तेलधारावत् अविच्छिन्न गति से चलता ध्यान-प्रवाह किसी से भी रोका नही जा सकता । अतः उसे अनाहत समतायोग भी कहते हैं ।

इस प्रकार जब ध्यान अत्यन्त वीर्य (वेग) युक्त होता है तब अपूर्वकरणरूप महासमाधि प्रकट होती है । (इससे पूर्व हुई सदनुष्ठान की साधना और उससे प्रकट होते श्रद्धा आदि गुण "चरम यथाप्रवृत्तिकरण" के योग शक्तियो का संचय करते थे क्योकि उनकी प्रकृष्ट विशुद्धि से ही "अपूर्वकरण" रूप महासमाधि प्रकट हो सकती है ।)

श्रद्धा आदि पाचो की प्राप्ति एव वृद्धि क्रमश ही होती है। यदि प्रथम श्रद्धा उत्पन्न हुई हो तो मेधा उत्पन्न होती है। इन दोनो की उप-स्थिति मे ही धृति प्रकट होती है—श्रद्धा आदि तीन के द्वारा धारणा उत्पन्न होती है और उन श्रद्धा आदि चारो की सहायता से ही क्रमश अनुप्रेक्षा की शक्ति प्रकट होती है। अत श्रद्धा आदि के अनुक्रम से हुआ उपन्यास हेतु युक्त है।

योग्य अधिकारी—"इन श्रद्धा आदि पाँचो की उत्तरोत्तर वृद्धि पूर्वक कायोत्सर्ग करता हूँ।" इसमे बताया गया है कि कायोत्सर्ग का योग्य अधिकारी कौन हैं ?

कायोत्सर्ग का योग्य अधिकारी वही हो सकता है कि जिसमे श्रद्धा आदि गुण उत्पन्न होते हो और उनकी वृद्धि होती हो। श्रद्धा आदि से विकल होने वाला व्यक्ति कायोत्सर्ग का सच्चा अधिकारी नही है। सच्चे अधिकारी मे तो उस उस क्रिया के प्रति आदर आदि अवश्य प्रकट होता है। क्षयोपशम आदि के कारण मद, मध्यम, उत्कृष्ट आदि अधिकारी के अनेक भेद हो सकते हैं।

आगार—कायोत्सर्ग मे रखी गई छूटो का वर्णन "अन्नत्थ सूत्र" मे "ऊससीएण से हुज्ज मे काउ" तक हो चुका है—सास लेना अथवा छोडना, खासी, छीक, उबासी, डकार, अपानवायुत्याग, भमरी, वमन, सूक्ष्म अग-सचालन, सूक्ष्म श्लेष्म-सचालन, सूक्ष्म दृष्टि सचार अथवा उजेही के प्रसग पर, पचेन्द्रिय की आड चोर तथा सर्पदश के भय का प्रसंग।

उपर्युक्त कारणो से देह का सचालन हो तो भी कायोत्सर्ग की "प्रतिज्ञा" नही टूटे और निर्धारित कायोत्सग अभग रहे, इस हेतु से ये सोलह आगार (छूट) रखे जाते हैं।

आगारो का रहस्यार्थ—कायोत्सर्ग रूप महान् ध्यान योग की साधना मे प्रवेश करते समय काया के समस्त स्थूल व्यापारो का निरोध किया जाता है, परन्तु जो सूक्ष्म स्पन्दन हैं, जिन्हे रोका नही जा सकता अथवा जिन्हे रोकने से स्वास्थ्य की हानि तथा जीव हिंसा जैसी महान हानि होती हो ऐसे कारणो की छूट रखी जाती है ताकि कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा का भग न हो।

इससे ज्ञात हो सकता है कि कायोत्सर्ग की महासाधना के लिए कैसी विलक्षण किलेबन्दी की जाती है, तथा ध्यानस्थ दशा मे पर्याप्त कर्म-

निर्जरा सिद्ध होती होने पर भी "जीवरक्षा" के लिये उसे त्याग देने का विधान अहिंसा (दया) की आवश्यकता एवं समस्त अनुष्ठानो मे उसकी प्रधानता सूचित करता है।

कोई शुष्कध्यानी ध्यान के लोभ से भी जीव-हिंसा की उपेक्षा करके निर्दय अथवा निष्ठुर न हो जाये उस हेतु से ही भाव-करुणा के भण्डार श्री तीर्थंकर एव गणधर भगवन्तो ने इन आगारो का विधान किया है।

मर्यादा (अवधि)—कायोत्सर्ग का काल-प्रमाण "जाव अरिहताण, भगवन्ताणं, नमुक्कारेण, न पारेमि"—इन चार पदो के द्वारा बताया गया है। अत जब तक अरिहत भगवन्तो को नमस्कार करके अर्थात् "नमो अरिहन्ताणं" पद का उच्चार करके नही पारूँ तब तक कायोत्सर्ग की अवस्था में रहूँगा।

कायोत्सर्ग का (जघन्य) कम से कम काल प्रमाण आठ श्वासोश्वास का होता है, तथा "इरियावहिय" मे पच्चीस श्वासोश्वास का प्रमाण होता है, कभी-कभी सत्ताईस अथवा अठाईस श्वासोश्वास भी होते है। इस प्रकार जहाँ जितना प्रमाण बताया गया हो वहां उतना समय पूर्ण होने के पश्चात् "नमो अरिहन्ताण" का उच्चारण करके काउस्सग पारना चाहिये। मर्यादित (निश्चित) समय से पूर्व "नमो अरिहन्ताण" बोलकर काउस्सग पारा जाये तो कायोत्सर्ग का भग होता है, तथा निश्चित समय व्यतीत होने के पश्चात् "नमो अरिहन्ताण" कहकर पारे तो भी कायोत्सर्ग भंग होता है। इस प्रकार कायोत्सर्ग निश्चित काल प्रमाण से युक्त होता है।

चेष्टा एवं अभिभव के भेद से कायोत्सर्ग के दो भेद हैं—

(१) **चेष्टा**—जो कायोत्सर्ग गमनागमन के पश्चात्, विहार के पश्चात् दिन-रात्रि (देवसी राई आदि) पक्ष, चातुर्मास अथवा सवत्सर के अन्त में निश्चित प्रमाण मे किया जाता है, उसे चेष्टा कायोत्सर्ग कहते है। उसका निश्चित काल प्रमाण इस प्रकार है—जघन्य से आठ श्वासोश्वास[1], उत्कृष्ट से १००८ श्वासोश्वास।

---

१ पाय सम उसासा—अर्थात् यहाँ कायोत्सर्ग मे एक पाद (श्लोक का चौथाई भाग) उच्चारण काल को श्वासोश्वास समझें।

(२) अभिभव—जो कायोत्सर्ग तितिक्षा, उपसर्ग, परीषह आदि सहन करने की शक्ति विकसित करने के लिये किया जाता है, उसे अभिभव कायोत्सर्ग कहते है। इसका समय प्रमाण अनिश्चित है, जो जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से एक वर्ष प्रमाण भी हो सकता है। एक रात्रि की प्रतिमा आदि मे भी अभिभव कायोत्सर्ग होता है।

कायोत्सर्ग का स्वरूप—"तावकाय ठाणेण, मोणेण, झाणेण अप्पाण वोसिरामि" पदो के द्वारा बताया गया है।

"अरिहन्त परमात्मा को नमस्कार करके नही पारूँ तब तक देह को एक स्थान पर रखकर, वाणी का व्यापार बन्द करके मौन धारण करके और मन को प्रशस्त (शुभ) धर्म ध्यान मे लगाकर अपनी काया का त्याग करता हूँ।"

अतः कायोत्सर्ग मे स्थान, मौन, ध्यानरूप क्रिया के अतिरिक्त अन्य क्रिया के अभ्यास को (मिथ्यारोप को) छोड देता हूँ, अर्थात् भुजाओ को लटकती हुई रखकर, वचन प्रहार को रोक कर, प्रशस्त ध्यान मे तत्पर बना मैं एक स्थान पर खडा रहूँगा। इसके द्वारा कायोत्सर्ग का बाह्य और आन्तरिक स्वरूप बताया गया है।

कायोत्सर्ग मे ध्येय—कायोत्सर्ग मे ध्येय निश्चित नही होता अर्थात् ध्येय का कोई ऐसा निश्चित नियम नही कि येही चाहिए, परन्तु (परिणाम के अनुसार) जिस प्रकार अध्यवसाय (परिणाम) स्थिर एव विशुद्ध हो उस प्रकार से ध्येय पसन्द किया जा सकता है, जैसे—

(१) गुण– परमात्मा के ज्ञान आदि गुणो का चिन्तन करना।

(२) जीव, अजीव आदि तत्व अथवा देव, गुरु, धर्मतत्व का चिन्तन करना।

(३) स्थान वर्ण, अर्थ, आलम्बन योग अर्थात् मुद्रा, अक्षर भावार्थ और प्रतिमा आदि आलम्बन मे चित्त को स्थिर करना।

(४) आत्मीय दोष प्रतिपक्ष– स्वय मे विद्यमान राग, द्वेष, मोह आदि दोषो का निरीक्षण करके उनका निराकरण करने के लिए उनकी प्रतिपक्षी भावनाओ मे उपयोग रखना आदि। उपर्युक्त गुण अथवा तत्व का चिन्तन आदि विद्या विवेक सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति के बीज हैं।

कायोत्सर्ग का फल—इस प्रकार ध्येय के चिन्तन से आत्मोपयोग निर्मल होता है। तथा शुभ भाव के द्वारा अबध्य पुण्य (पुण्यानुबन्धी पुण्य) का सृजन होता है।

सम्पूर्ण संवर फल की प्राप्ति--

(१) कायोत्सर्ग मे मन, वचन, काया का निरोध होने से मनोगुप्ति, वचनगुप्ति एव कायगुप्ति सिद्ध होती है।

(२) कायोत्सर्ग मे बाईस परीषह सम्यग प्रकार से सहन किये जाते हैं।

(३) क्षमा आदि यतिधर्मो का पालन होता है, तथा अनित्य आदि बारह भावनाएँ भावित होती हैं।

(४) कायोत्सर्ग के द्वारा सामायिक आदि पाँचो चारित्र प्राप्त होते हैं और उनमे स्थिरता आती है, जिससे कायोत्सर्ग के द्वारा समस्त प्रकार का संवर सिद्ध होता है, अर्थात् समस्त प्रकार के आस्रवो (कर्म बन्ध के हेतु) को रोका जाता है।

कायोत्सर्ग में समस्त आस्रवो का निरोध—

(१) पाँच इन्द्रियो के विषय का दमन होता है।

(२) क्रोध आदि कषायो पर विजय प्राप्त होती है।

(३) हिंसा, असत्य, चोरी, कामभोग और परिग्रह (मूर्च्छा) का त्याग होता है।

(४) मन, वचन और काया के अशुभ सावद्य व्यापारो का त्याग होता है।

(५) कायिकी आदि पच्चीस क्रियाओ का भी यथायोग्य रीति से गुण स्थानक के क्रम से निरोध होता है।

कायोत्सर्ग से कर्म-क्षय (निर्जरा)—

बारह (छ बाह्य और छ अभ्यन्तर) प्रकार के तपो से कर्मो की निर्जरा होती है।

कायोत्सर्ग यथायोग्य प्रकार से बारह प्रकार के तपो का आचरण होने से उसके द्वारा अपार कर्म-निर्जरा होती है।

(१) **अनशन**—कायोत्सर्ग के समय चारो प्रकार के आहार का सर्वथा त्याग होता है। इससे ही (२) उणोदरी, (३) वृत्ति-सक्षेप, (४) रस-त्याग (विगई का त्याग) भी सहज ही सिद्ध होता है।

(५) **काय-क्लेश**—कायोत्सर्ग के द्वारा काया का कष्ट समभाव से सहन करना पडता है।

(६) सलीनता—कायोत्सर्ग मे समस्त अग-उपागो का सकोच सहज ही हो जाता है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग मे वाह्य तप का आचरण सहज भाव से ही होता है, तथा अभ्यन्तर तप के भी समस्त भेद उसमे समाविष्ट है जो इस प्रकार है—

(१) प्रायश्चित्त—कायोत्सर्ग के द्वारा पाप का उच्छेद और चित्त की निर्मलता होती होने से वह प्रायश्चित्त का ही एक भेद है।

(२) विनय, (३) वैयावच्च—अरिहन्त परमात्मा की प्रतिमा को वन्दन, पूजन, सत्कार और सम्मान के लिये किये जाने वाले कायोत्सर्ग के द्वारा भाव-विनय एव भाव वैयावच्च सिद्ध होता है।

(४) स्वाध्याय— कायोत्सर्ग मे धारणा एव अनुप्रेक्षा पूर्वक श्रुत-ज्ञान शास्त्रोक्त पदार्थों का चिन्तन होता है, तथा श्रुतस्कध, अध्ययन एव उद्देशा-रूप आगमो के पाठ लेना, उन्हे स्थायी करना तथा अनुज्ञा प्राप्त करने के लिये भी कायोत्सर्ग किया जाता है। अत कायोत्सर्ग के द्वारा उस समय श्रुतज्ञान को ग्रहण करने का क्षयोपशम प्रकट होता है। इस प्रकार कायोत्सर्ग के द्वारा श्रुतज्ञान की आराधना होती है।

(५) ध्यान—कायोत्सर्ग मे धर्मध्यान और शुक्लध्यान के समस्त प्रकारो के द्वारा ध्येय का चिन्तन हो सकता है, इस कारण वह विशिष्ट ध्यान योग ही है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग के द्वारा समस्त प्रकार के प्रशस्त ध्यानो की सिद्धि होती है।

(६) कायोत्सर्ग—काया—देह का त्याग दो प्रकार से हो सकता है।

(१) अल्पकाल के लिए देहाध्यास (बहिरात्म भाव) का देह की चिन्ता अथवा ममता का त्याग।

(२) सदा के लिए सर्वदा काया का तथा देहाध्यास का त्याग।

प्रस्तुत कायोत्सर्ग के द्वारा दोनो प्रकार का त्याग सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार कायोत्सर्ग के द्वारा समस्त प्रकार के तप की आराधना होती होने से पूर्ण कर्म-क्षय रूप निर्जरा को सिद्ध करती है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग के द्वारा पुण्यानुबन्धी पुण्य, सवर और निर्जरा तत्त्व (मोक्ष के साधक तत्त्व) को सिद्धि होती है जिससे शीघ्र मोक्ष प्राप्त होता है।

कायोत्सर्ग और जिनाज्ञा—

कायोत्सर्ग के द्वारा जिनाज्ञा का पूर्णत पालन होता है।

आस्रव सर्वथा हेय (त्याज्य) है और सवर सदा उपादेय आचरणीय है। यह जिनेश्वरो की आज्ञा है, इसकी आराधना से मोक्ष प्राप्त होता है और उसकी विराधना भव मे भ्रमण कराती है।

जिनशासन जिनाज्ञा स्वरूप है।

कायोत्सर्ग के द्वारा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग-रूप आस्रवो का क्रमश त्याग होता है और सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय एव अयोगी दशारूप सवर का सेवन होता है। अत कायोत्सर्ग के द्वारा समस्त प्रकार के सवर का सेवन होता होने से उसके द्वारा जिनशासन अथवा जिनाज्ञा की सम्पूर्ण आराधना होती है।

कायोत्सर्ग और योग —

कायोत्सर्ग के द्वारा इच्छा आदि, अध्यात्म आदि, स्थान आदि (भक्ति) योग आदि समस्त प्रकार के योगो की साधना हो सकती है, जिससे समस्त योगो का उसमे समावेश है।

(१) इच्छायोग, प्रवृत्तियोग, अध्यात्मयोग और भावनायोग के द्वारा श्रद्धा आदि का आधिक्य होता है और स्थैर्ययोग, सिद्धियोग के द्वारा श्रद्धा आदि परिपक्व होती है तव अपूर्वकरण रूप समाधि प्रकट होती है। तत्पश्चात क्रम से अनिवृत्तिकरण समाधि सिद्ध होने पर सम्यग्-दर्शन प्राप्त होता हैं।

(२) स्थान, वर्ण, अर्थ और आलम्बन योग के द्वारा कायोत्सर्ग मे ध्येय का चिन्तन किया जाता है और इसके सतत अभ्यास से अनालम्बन योग प्रकट होता है।

(३) देशविरति श्रावक एव सर्वविरति साधु कायोत्सर्ग ध्यान के द्वारा क्रम से विशिष्ट विशुद्धि प्राप्त करता हुआ इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग की भूमिका को प्राप्त करता है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग के द्वारा समस्त योगो की साधना होती है। इस कारण यह समाधि स्वरूप है, समस्त योगो का सार है।

कायोत्सर्ग एवं शुद्धात्मानुभव—

कायोत्सर्ग सम्यग्ज्ञान और सम्यग् क्रिया स्वरूप है।

इसमे भक्तियोग, ज्ञानयोग और चारित्र (कर्म) योग की आराधना के द्वारा परमात्मा के साथ, परमात्मा के शुद्ध द्रव्य-गुण एव पर्याय के साथ तन्मयता होती है, तब चेतन द्रव्य की साधर्म्यता से स्वआत्मस्वरूप का परिचय होता है। स्व आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय के चिन्तन मे लीनता होने पर शुद्धात्मा के सुख और आनन्द की अनुभूति होती है, आत्मा और परमात्मा के मध्य का अन्तर (भेदभाव) समाप्त हो जाता है और आत्मा तथा देह की भिन्नता का भान होता है, जिससे देहाध्यास (बहिरात्म भाव) दूर होने पर अन्तरात्म-भाव मे स्थिर होकर परमात्म-भावना उत्पन्न होती है।

परमात्म भावना से युक्त व्यक्ति स्वय को परमात्म स्वरूप मे अनुभव करे यही "शुद्धात्मानुभव" कहलाता है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग के द्वारा शुद्ध आत्मानुभूति होती होने से यह शुद्ध समाधि स्वरूप है।

दिवाकर प्रकाशन, 208/2 A-7 अवागढ हाऊस, अजना सिनेमा के सामने,
एम. जी. रोड, आगरा-282002 के लिए विकास प्रिंटर्स मे मुद्रित ।

प्राकृत भारती अकादमी,

जयपुर के प्रकाशनों का प्राप्ति स्थान :

१. प्राकृत भारती अकादमी
   ३८२६, मोतीसिंह भोमियों का रास्ता, जयपुर–३०२ ००३

२. श्री जैन श्वे० नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ
   मेवानगर, स्टे० बालोतरा–३४४ ०२५
   जि० बाड़मेर (राजस्थान)

३. मोतीलाल बनारसीदास
   (अ) बंगला रोड, जवाहर नगर, दिल्ली–११० ००७
   (ब) चौक, वाराणसी–२२१ ००१
   (स) अशोक राजपथ, पटना–८०० ००४
   (द) २४, रेसकोर्स रोड, बंगलोर–५६० ००१
   (य) १२०, रोयापेट्टा हाई रोड, मैलापुर, मद्रास–६०० ००४

४. आगम, अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान,
   पद्मिनी मार्ग, उदयपुर–३१३ ००१

५. जैन भवन
   पी–२५, कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता–७०० ००७